योगविद्या

वर्ष 5 अंक 7
जुलाई 2016
सदस्यता डाकखर्च – रु 100

बिहार योग विद्यालय, मुंगेर, बिहार, भारत

हरिः ॐ

योग विद्या का सम्पादन, मुद्रण और प्रकाशन स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के संन्यासी शिष्यों द्वारा स्वास्थ्य लाभ, आनन्द और प्रकाश प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों के लिए किया जाता है। इसमें बिहार योग विद्यालय, बिहार योग भारती, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट तथा योग शोध संस्थान के क्रियाकलापों की जानकारियाँ प्रकाशित की जाती हैं।

सम्पादक – स्वामी शक्तिमित्रानन्द सरस्वती

योग विद्या मासिक पत्रिका है। देर से सदस्यता ग्रहण करने पर भी उस वर्ष के जनवरी से दिसम्बर तक के सभी अंक भेजे जाते हैं।

बिहार योग विद्यालय, गंगादर्शन, फोर्ट, मुंगेर, 811201, बिहार, द्वारा प्रकाशित।

थॉमसन प्रेस इण्डिया लिमिटेड, फरीदाबाद, 121007, हरियाणा में मुद्रित।

© Bihar School of Yoga 2016

पत्रिका की सदस्यता एक वर्ष के लिए पंजीकृत की जाती है। कृपया अपने आवेदन अथवा अन्य पत्राचार निम्नलिखित पते पर करें –

बिहार योग विद्यालय
गंगा दर्शन,
फोर्ट, मुंगेर, 811201
बिहार

✉ अन्य किसी जानकारी हेतु स्वयं का पता लिखा और डाक टिकट लगा हुआ लिफाफा भेजें, जिसके बिना उत्तर नहीं दिया जायेगा।

कुल पृष्ठ संख्या : 60 *(कवर पृष्ठों सहित)*

कवर फोटो : श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

अन्दर के रंगीन फोटो : 1-4: श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती एवं स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

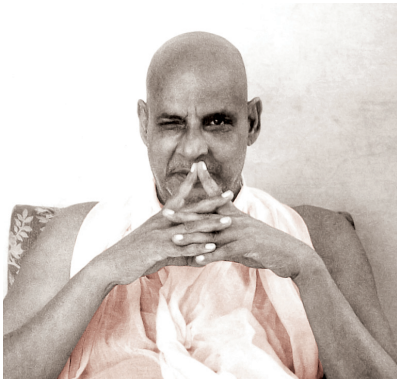

आध्यात्मिक मार्गदर्शन

नियति का निर्माण

विचार ही वास्तविक कर्म हैं। विचार ही हमारा चरित्र ढालते हैं। विचार से कर्म पैदा होता है, कर्म से आदत, आदत से चरित्र और चरित्र से नियति बनती है। इस प्रकार अपनी नियति का निर्माण आप स्वयं करते हैं।

आप किसी परिस्थिति के वशीभूत असहाय प्राणी नहीं हैं। आप ही अपनी वर्तमान स्थिति के लिए उत्तरदायी हैं। पिछले जन्म की वृत्तियाँ इस जन्म की क्षमताएँ बन जाती हैं। पूर्वजन्म के सत्कर्म आपको वर्तमान जन्म में अच्छा वातावरण प्रदान करते हैं। पूर्वजन्म के अनुभव आपके वर्तमान अन्त:करण का निर्माण करते हैं। पूर्वजन्म के नि:स्वार्थ कर्म वर्तमान जीवन में विवेक एवं अनासक्ति प्रदान करते हैं।

– श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती

बिहार योग विद्यालय, गंगादर्शन, फोर्ट, मुंगेर-811201, बिहार के लिए स्वामी ज्ञानभिक्षु सरस्वती द्वारा प्रकाशित एवं मुद्रित
मुद्रक – थॉमसन प्रेस इण्डिया लिमिटेड, 18/35 माइलस्टोन, दिल्ली मथुरा रोड, फरीदाबाद-121007, हरियाणा
स्वामित्व – बिहार योग विद्यालय **सम्पादक** – स्वामी शक्तिमित्रानन्द सरस्वती

योगविद्या

वर्ष 5 अंक 7 • जुलाई 2016
(प्रकाशन का 54 वाँ वर्ष)

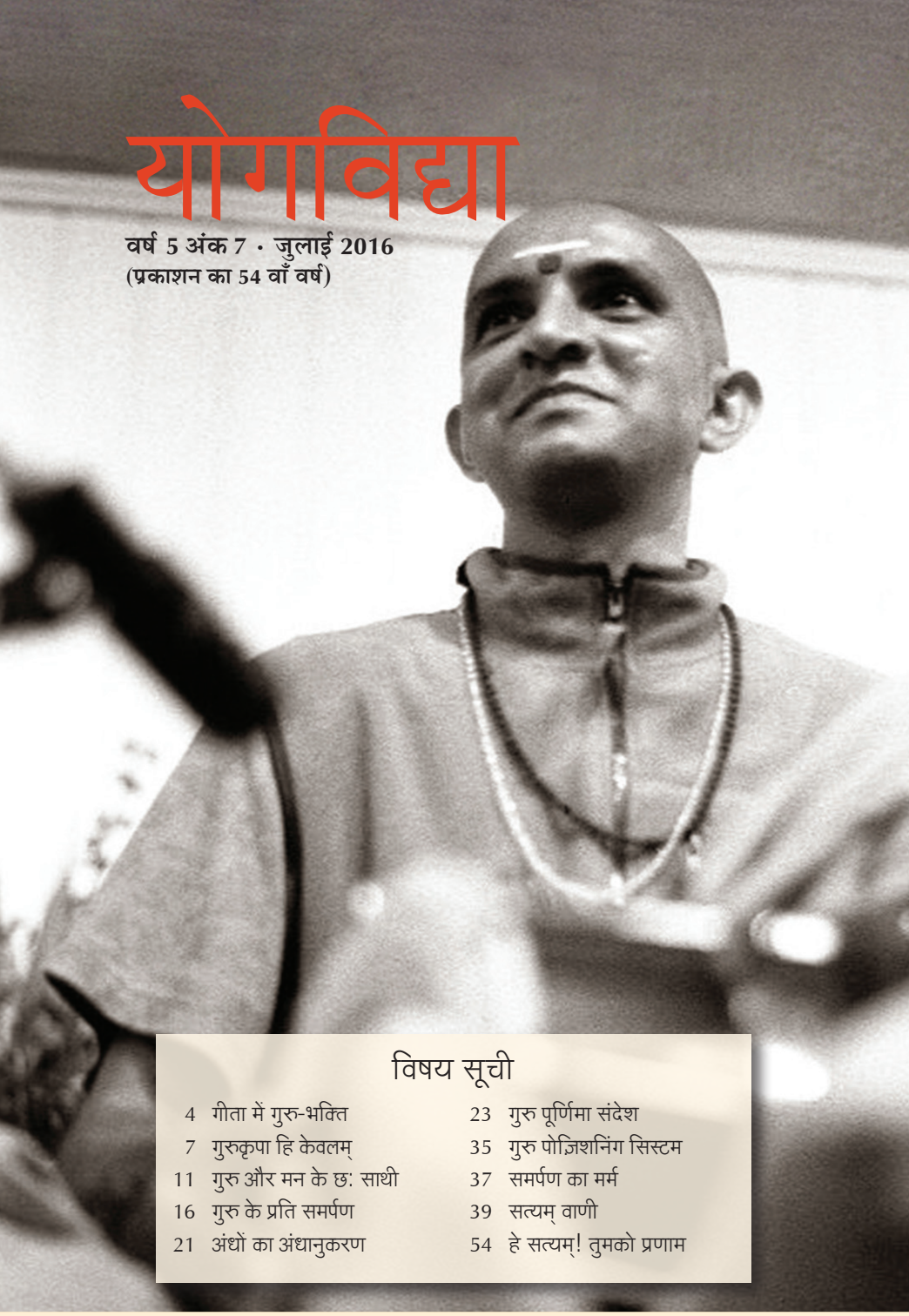

विषय सूची

4 गीता में गुरु-भक्ति
7 गुरुकृपा हि केवलम्
11 गुरु और मन के छः साथी
16 गुरु के प्रति समर्पण
21 अंधों का अंधानुकरण
23 गुरु पूर्णिमा संदेश
35 गुरु पोज़िशनिंग सिस्टम
37 समर्पण का मर्म
39 सत्यम् वाणी
54 हे सत्यम्! तुमको प्रणाम

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

गीता में गुरु-भक्ति

स्वामी शिवानन्द सरस्वती

भगवान श्री कृष्ण को यद्यपि अपने ईश्वरत्व का पूर्ण ज्ञान एवं आभास था, फिर भी उन्होंने सामान्य शिष्य की तरह गुरु का वरण किया, उनके समीप अध्ययन किया और पूर्ण समर्पण के साथ उनकी सेवा की। श्री कृष्ण की कथनी और करनी में कोई अंतर नहीं था। उनके सभी कर्म और व्यवहार उनकी वाणी की ही व्याख्या करते थे। आइये, हम उनकी अमृत वाणी, श्रीमद् भगवद् गीता पर दृष्टि डालें और देखें कि गुरु और उनके प्रति शिष्य के भाव-बर्त्ताव के विषय में क्या कहा गया है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते—श्री कृष्ण के अनुसार इस संसार में ज्ञान जैसा पवित्र और महान् तत्त्व कोई नहीं। अब प्रश्न उठता है कि इस ज्ञान को कैसे प्राप्त किया जाए? गीता में दो कथन इस महान् प्रश्न के उत्तर पर प्रकाश डालते हैं। प्रथम है—*श्रद्धावान् लभते ज्ञानं*—श्रद्धा से युक्त व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त करते हैं। श्रद्धा को पूर्णतया परिभाषित करना कठिन है। यह तो प्रेम, विश्वास, भक्ति, निरभिमानिता और पूर्ण आत्म-समर्पण का अद्भुत सम्मिश्रण है। दूसरा भगवद् वाक्य है—*तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया, उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः*—'जिन महान् ज्ञानियों ने परम तत्त्व का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर लिया है, उनके समक्ष दण्डवत् प्रणाम करने से, उनसे सारगर्भित प्रश्न पूछने से और उनकी सेवा करने से वे तुम्हें उस ज्ञान का उपदेश देंगे।'

उच्चतम ज्ञान केवल अपने पुरुषार्थ के बल पर अर्जित नहीं किया जा सकता। यह सत्य विश्वरूप-दर्शन योग के अध्याय में स्पष्ट रूप से उजागर हुआ है। अर्जुन को अपना विराट् स्वरूप दिखाकर भगवान कहते हैं कि 'जिस अद्भुत रूप को तुमने अभी देखा उसके दर्शन के लिए देवी-देवता तक लालायित रहते हैं। पर वे मुझे तत्त्वत: नहीं जानते क्योंकि मैं उन सभी का स्रोत हूँ। केवल अनन्य भक्ति से मैं जाना जा सकता हूँ।'

जब कोई अनन्य भक्ति से युक्त होता है तभी भगवान उसे अपना स्वरूप दिखलाते हैं, जैसे उन्होंने अर्जुन को दिखाया। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है—भगवान ही स्वयं को प्रकट करते हैं। अर्जुन को भगवान ने ही दिव्य-चक्षु दिए जिनसे वह उनके विराट् स्वरूप का दर्शन कर पाया। इसी तरह श्री कृष्ण कहते हैं—*ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते*—अर्थात् जब साधक ज्ञान-प्राप्ति के योग्य हो जाता है तब मैं उसे बुद्धियोग देता हूँ जिसके माध्यम से वह मुझे प्राप्त कर लेता है। गीता के सबसे प्रबल उद्घोष—*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज, अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः*—में भी भगवान ने यह स्पष्ट

कर दिया है कि मेरे प्रति हृदय से पूर्ण आत्मार्पण कर दो। तुम केवल इतना ही कर सकते हो। मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा। तुम स्वयं यह काम नहीं कर सकते, पर डरो नहीं, मैं यह कर दूँगा। 'तुम केवल श्रद्धा विकसित कर सकते हो, मैं तुम्हें ज्ञान दूँगा; तुम केवल समर्पण कर सकते हो, मैं तुम्हें मोक्ष दूँगा'—यह भगवान का अंतिम उद्घोष है।

गीता के इन श्लोकों से एक सुन्दर सत्य उजागर होता है। एक जगह भगवान कहते हैं, 'मैं साधक को बुद्धि-योग देता हूँ जिससे वह मुझ तक पहुँच पाता है' और अन्य स्थान पर वे कहते हैं, 'महान् ज्ञानियों अर्थात् गुरुजनों के पास जाओ, उन्हें प्रणाम करो, उनकी सेवा करो, उनसे प्रश्न पूछो, वे तुम्हें सर्वोच्च ज्ञान देंगे।' इन दो कथनों को एक साथ देखने पर एक महान् सत्य की झलक मिलती है—गुरु और कोई नहीं, पृथ्वी पर अवतरित साक्षात् भगवान हैं। आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति या तो भगवान के अव्यक्त, निराकार स्वरूप के प्रति अनन्य भक्ति विकसित करके हो सकती है या फिर उनके गुरु स्वरूप मूर्त, साकार रूप के माध्यम से, जिस पर तुम ध्यान कर सकते हो, जिसका नाम जप सकते हो, जिसके व्यक्तित्व को तुम देख, सुन और छू सकते हो, जो तुम्हें व्यक्तिगत रूप से आत्मज्ञान के पथ पर प्रेरित और निर्देशित कर सकता है। इस प्रकार भगवान ने गुरु के साथ अपना पूर्ण तादात्म्य सिद्ध किया है। साधक अपनी श्रद्धा और भक्ति या तो भगवान के निराकार स्वरूप के प्रति दिशान्तरित कर सकता है या फिर धरती पर उनके साकार स्वरूप, गुरु के प्रति। अधिकांश लोगों के लिए दूसरा विकल्प निश्चित रूप से अधिक सुलभ और व्यावहारिक है।

गुरु-भक्ति और गुरु-सेवा की परिणति आत्म-साक्षात्कार में होती है। इसलिए अपने गुरु की सेवा और सत्कार निरंतर करते जाना है। जब सही समय आ जाएगा, जब तुम्हारा समर्पण पूर्ण हो जाएगा तब गुरु स्वयमेव सत्य से तुम्हारा साक्षात्कार कराएँगे। वह समय कब आएगा, इससे तुम्हारा कोई सरोकार नहीं होना चाहिए। अर्जुन ने विश्वरूप-दर्शन की प्रार्थना की और फिर भगवान से दिव्य-चक्षु मिलने की धैर्यतापूर्वक प्रतीक्षा की। इसी तरह तुम्हें बस सेवा, सेवा और सेवा करते रहना है। जब तुम परिपक्व और तैयार हो जाओगे तब गुरु तुम्हें अवश्य ज्ञान प्रदान करेंगे। अपरिपक्व और लापरवाह साधक कुछ वर्षों तक अपने गुरु की सेवा करते हैं, फिर यह सोचकर छोड़ देते हैं कि उनकी चित्त-शुद्धि हो गई है। ऐसे अभागे साधक परम ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते, वे अपने लक्ष्य से चूक जाते हैं। उन्हें कुछ पुण्य अवश्य मिलता है, लेकिन आत्म-साक्षात्कार नहीं। यह सचमुच एक बहुत बड़ी हानि, बहुत बड़ी भूल है।

गुरु-भक्ति और गुरु-सेवा दो पतवारें हैं साधना रूपी नौका की, जिनके सहारे तुम विषम संसार-सागर को पार कर जाओगे। जब तक तुम शाश्वत आनन्द और अमरत्व के तट पर नहीं पहुँच जाते, जब तक तुम जीवनमुक्त नहीं बन जाते तब तक वे तुम्हारे लिए अपरिहार्य हैं। आध्यात्मिक यात्रा के अंत में गुरु-भक्ति ही आत्मानुभूति के रूप में तुम्हारे भीतर प्रकट होती है और गुरु-सेवा लोकसंग्रह बन जाती है जिसमें तुम स्वाभाविक रूप से तल्लीन हो जाते हो।

जिस मनुष्य में इस प्रकार की गुरु-भक्ति है, जिसने गुरु के प्रति पूर्णरूपेण समर्पण कर दिया है, जो गुरु की तन-मन-धन से सेवा करता है, उसे कोई दु:ख, कष्ट, भय या भ्रम नहीं सता सकता। वह शीघ्र ही भगवद्-साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है क्योंकि गुरु और भगवान एक ही हैं। उपनिषदों में भी कहा गया है– *यस्य देवे पराभक्ति: यथा देवे तथा गुरौ, तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मन:*– जिसकी भगवान में परम भक्ति है और वैसी ही भक्ति अपने गुरु में भी है, ऐसे महात्मा के हृदय में उपनिषदों के गूढ़ सत्य स्वत: प्रकाशित हो जाते हैं।

भगवान करे तुम सब गुरु-भक्ति के ज्वलन्त आदर्श बन जाओ और इसी जन्म में जीवनमुक्त बनकर वसुन्धरा पर विचरण करो!

गुरुकृपा हि केवलम्

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

'गुरुकृपा हि केवलम्' का तात्पर्य यह है कि गुरु की कृपा ही परम सत्ता और एकमात्र वास्तविकता है। शिष्य के प्रसंग में यह बात पूरी तरह लागू होती है क्योंकि अपने आध्यात्मिक एवं सांसारिक जीवन के बीहड़, अगाध गर्त्त में वह किसकी ओर देखेगा? जब जलपोत बन्दरगाह के निकट पहुँचने लगते हैं तब प्रकाशस्तम्भ उनका मार्गदर्शन करता है। जिस प्रकार एक जलपोत चालक के लिये प्रकाशस्तम्भ अति आवश्यक है, उसी प्रकार शिष्य के मार्गदर्शन हेतु गुरु बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं।

यदि आप ध्यानपूर्वक चिन्तन करें तो अनुभव करेंगे कि आप वास्तव में यह नहीं जानते कि आप कौन हैं, कहाँ हैं। यथार्थ में हम अपने बारे में कुछ भी नहीं जानते, और यदि आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये हम चेतना की गहराइयों में डुबकी लगाने का प्रयास भी करते हैं तो हमें डरावनी अनुभूतियों का सामना करना पड़ता है। जीवन के अन्धकारमय पथ के पथिक के हाथ में एक प्रकाश उपकरण तो होना ही चाहिये। इसीलिये हमलोग कहते हैं, *'गुरुकृपा हि केवलम्।'*

मेरे गुरु, स्वामी शिवानन्द जी एक सन्त थे, उपदेशक नहीं। हालाँकि वे ढाई सौ से अधिक पुस्तकों के लेखक थे, फिर भी वे बुद्धिवादी नहीं थे। वे एक बच्चे के समान निष्कपट और शुद्ध-भावना-सम्पन्न थे। उनके अनेक प्रतिभाशाली शिष्य थे और आज, जिस प्रकार मैं उनकी कृपा का अनुभव कर रहा हूँ, मुझे पक्का विश्वास है कि उन सब को भी वह प्राप्त हो रही है।

जब मैं स्वामी शिवानन्द जी के साथ रहता था तब अपने आध्यात्मिक विकास हेतु घोर परिश्रम किया करता था। गुरु पद प्राप्त करने, आश्रम खोलने या शिष्य बनाने का मेरा कोई उद्देश्य नहीं था। आज भी यह बात मुझे कुछ अजीब-सी लगती है कि मैं एक गुरु हूँ। अनेक बार मैं अपने अन्दर गुरु को ढूँढ़ने का प्रयास करता हूँ, लेकिन मुझे वहाँ कोई गुरु नहीं मिलता। हाँ, अपने अन्दर शिष्यत्व को अवश्य देखता हूँ।

गुरु या शिक्षक बनने का मेरा कभी कोई लक्ष्य नहीं था। मैं तो हवा की रुख के साथ उड़ते उन्मुक्त पक्षियों या सागर की उन्मत्त लहरों के समान जीना चाहता था। मेरा आदर्श था—न कुछ करना और न कुछ प्राप्त करना; न कुछ खोना और न कुछ पाना; किसी प्रकार अपना जीवन बिता देना, बस, इतना ही। सन् 1956 से 1963 तक इस प्रकार का जीवन बिताने में मैं सफल भी रहा। मैं न तो किसी एक स्थान में ठहरा और न किसी से सम्बन्ध जोड़ा। बस, एक साधारण भिक्षुक की तरह पूरे देश में घूमता रहा। उस समय अगर आप मुझे देखते तो मेरे भाग्य पर दया आती।

मैं सड़कों पर रातें बिताया करता, किसी भी जगह का पानी पी लेता। मैं कहीं भी और किसी भी प्रकार के लोगों के साथ सो जाता। मैं इस तरह का जीवन पसन्द करता था क्योंकि उसमें पूर्ण स्वतन्त्रता थी। कोई भी मुझसे धार्मिक या सामाजिक नियमों के अनुकरण की अपेक्षा नहीं रखता था। कोई मुझसे परिवार, समाज या राष्ट्र के प्रति उत्तरदायित्व से सम्बन्धित बातें नहीं करता था।

फिर जुलाई 1963 की एक रात को मुझे आकाशवाणी सुनाई पड़ी। गुरु के आदेश स्पष्ट थे। आज मुझे लगता है कि मैं उन आदेशों का ही अनुसरण कर रहा हूँ। इसलिये नहीं कि मुझे सम्मान मिलता है, बल्कि इसलिये कि उन्होंने इस कार्य हेतु मुझे चुना। इसे ही गुरु-कृपा कहते हैं।

यदि वे मुझे दु:ख देंगे तो उसे भी मैं उनकी कृपा ही मानूँगा। केवल अच्छी चीजें तथा जीवन की सकारात्मक और अनुकूल परिस्थितियाँ ही गुरु या ईश्वर की कृपा के द्योतक नहीं होते। कृपा के पीछे एक उद्देश्य होता है, भले ही हम उसे समझें या न समझें। वैसे मेरी दार्शनिक परम्परा वेदान्त की रही है, योग की नहीं। मैं योग की अपेक्षा वेदान्त के बारे में अधिक जानता हूँ, क्योंकि मैंने अनेक वर्षों तक इसका अध्ययन किया। फिर भी मैं योग का प्रचार कर रहा हूँ, वेदान्त का नहीं, क्योंकि मेरे गुरु के अनुसार लोग दुर्बल संकल्पशक्ति से ग्रस्त हैं और सिर्फ योग से उनका कल्याण सम्भव है।

जब मैं गुरु आश्रम में रहता था, मेरे लिये किसी भी व्यक्ति को अपने सहयोगी के रूप में स्वीकार करना कठिन था। मैं यह नहीं चाहता था कि कोई मुझ पर निर्भर रहे। मैं सदैव सोचता था, 'मैं अकेला आया हूँ, अकेला जाऊँगा, इसलिए मुझे अकेले ही रहना चाहिये।' लेकिन आज मैं पाता हूँ कि आश्रम में हर व्यक्ति मुझसे अत्यधिक जुड़ा हुआ है। लोग हमेशा मेरी कुटिया का चक्कर लगाते हैं और मेरे दरवाजे के बाहर प्रतीक्षा करते रहते हैं। यह सब मेरे लिये बहुत असह्य है क्योंकि मैं एक भिन्न प्रकार का व्यक्ति हूँ। आपने देखा होगा कि मैं किसी व्यक्ति के कमरे में जाकर बातें नहीं करता, यह मेरा स्वभाव नहीं है। अनेक बार मैंने सोचा है कि सब कुछ छोड़कर शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करूँ। किन्तु जब भी मैं ऐसा सोचता हूँ, मुझे पुन: गुरु-गर्जना सुनाई पड़ती है, 'काम जारी रखो।' मैं अविलम्ब स्वीकार करता हूँ, 'जैसी आपकी आज्ञा', और क्लेश सहते मैं चलता चला जा रहा हूँ।

हालाँकि मैं अभी भी शिष्य ही हूँ, लेकिन मेरे ऊपर गुरुत्व आरोपित कर दिया गया है और मुझे यह भारी वजन उठाना है। सोचता हूँ कि एक शिष्य के रूप में मेरे सामने कोई अन्य विकल्प नहीं है। इसलिए जब लोग पूछते हैं कि 'क्या आप मेरे गुरु हैं?', मैं कह देता हूँ, 'हाँ,' हालाँकि मैं यह कहना ज्यादा पसन्द करूँगा कि, 'मैं तुम्हारे जैसा ही हूँ। ज्यादा-से-ज्यादा तुम मुझे बड़ा भाई या वरीय मित्र मान सकते हो।' लेकिन मुझे कहना पड़ता है, 'हाँ, मैं तुम्हारा गुरु हूँ', क्योंकि

एक शिष्य होने के नाते मुझे गुरु-कृपा के प्रवाह में बहना है। शिष्य के पास कोई विकल्प नहीं होता। यदि शिष्य के पास कोई विकल्प होगा तो गुरु और शिष्य के बीच एक लौह-दीवार खड़ी हो जायेगी। तब गुरु इस दीवार की एक तरफ होंगे और शिष्य दूसरी तरफ, उनके बीच संचार असम्भव हो जायेगा।

मैंने अनेक महान् शिष्यों की जीवन-कथाएँ पढ़ी हैं। उनमें स्वामी विवेकानन्द की जीवनी भी एक है। उनका जीवन किस प्रकार गुरु-कृपा की लहरों पर तरंगित हुआ! रामकृष्ण परमहंस ने अपने कृपा-प्रवाह से उन्हें पूर्णत: आप्लावित कर दिया था और इसीलिए स्वामी विवेकानन्द अपने अल्प-कालीन जीवन में अपने गुरु के लक्ष्यों के प्रति पूर्णतया समर्पित रहे। प्रारम्भ में उनका व्यक्तित्व बहुत नकारात्मक था और वे रामकृष्ण के बारे में कहा करते थे कि 'मैं इस साधु को बिल्कुल ही पसन्द नहीं करता हूँ।' लेकिन रामकृष्ण ने तो उनके बारे में अन्तिम निर्णय कर लिया था और एक बार जब गुरु निर्णय कर लेते हैं तो शिष्य के सामने कोई विकल्प नहीं रह जाता।

केवल भारत में ही नहीं, यूरोप में भी शिष्य के जीवन में गुरु-कृपा की पवित्र परम्परा सदा से कायम रही है। शिष्यों की कमी तो आज भी नहीं है, किन्तु गुरु-कृपा से युक्त शिष्य विरले ही मिलते हैं। मुझे प्राय: आश्चर्य होता है कि स्वामी शिवानन्द जी ने मुझे क्यों पसन्द किया। मेरी समझ में इसका सिर्फ एक ही कारण हो सकता है—मैं सदैव उनका एक परम उत्सुक और उत्साही अनुचर बना रहा। उनके जीवन की सामान्य-से-सामान्य घटना भी मेरे लिये बहुत अर्थपूर्ण होती थी। मैं उनके प्रत्येक शब्द, अभिव्यक्ति और गतिविधि का बहुत सावधानीपूर्वक

अवलोकन किया करता था–वे क्या और कैसे खाते थे, कैसे और कितनी देर सोते थे, लोगों का किस प्रकार अभिवादन करते थे तथा उनके साथ कैसा व्यवहार करते थे, आदि। अनेक बार मैं यह भविष्यवाणी कर सकता था कि वे क्या सोच रहे हैं और कभी-कभी तो किसी विषय पर उनके द्वारा निर्णय लिये जाने के पूर्व ही मैं कह सकता था कि वे क्या करने जा रहे हैं।

कुछ विशेष परिस्थितियों में आश्रम निवासी मुझसे पूछा करते थे कि स्वामीजी क्या करने जा रहे हैं और मैं बिल्कुल सही-सही भविष्यवाणी कर देता था। जब मैं उनकी बगल में खड़ा होता था तो उनकी विचार-तरंगों को स्पष्ट रूप से अनुभव कर सकता था। आज भी मुझे यह विश्वास नहीं होता है कि उनका देहान्त हो गया है। यह सही है कि अब वे इस संसार में नहीं हैं, किन्तु मेरे लिये ऐसा मानना बहुत कठिन है, क्योंकि जब वे जीवित थे तो उनका जो शरीर मुझे दृष्टिगोचर होता था, वह भौतिक पदार्थों का बना हुआ नहीं मालूम पड़ता था। वह किसी विशुद्ध-निर्मल दिव्य पदार्थ से निर्मित मालूम पड़ता था। सिर्फ एक दिन के लिये ही नहीं, बल्कि पूरे बारह वर्षों तक मैं उनके शरीर को इसी रूप में देखता रहा।

जब तक मैं स्वामी शिवानन्द जी के साथ रहा, प्रत्येक वस्तु एवं विषय के सम्बन्ध में उनके साथ मेरा पूर्ण तादात्म्य बना रहा। गुरु और शिष्य के बीच इस प्रकार का एकत्व अवश्यमेव स्थापित होना चाहिये, तब गुरु की कृपा स्वत: प्रवाहित होने लगती है। इसीलिये कहा गया है, *'गुरुकृपा हि केवलम्।'*

आप लोगों के समान मैं भी ईश्वर में विश्वास रखता हूँ, किन्तु ईश्वर के बारे में क्या और किस प्रकार विचार किया जाए? वे क्या हैं और क्या नहीं? आखिर वे एक मनुष्य तो हैं नहीं, न ही मात्र एक मूर्ति हैं; वे तो सम्पूर्ण हैं, समग्र हैं। मैं अपने इस लघु मस्तिष्क से उस सम्पूर्णता के बारे में कैसे सोच सकता हूँ? मस्तिष्क सीमित है जब कि ईश्वर असीम और अनन्त है। क्या यह सम्भव है कि सीमित मस्तिष्क अनन्त, असीम ईश्वर को देख सकता है?

असीम को देखने, समझने और अनुभव करने के लिये आपको स्वयं असीम बनना पड़ेगा। इसलिए वर्षों पूर्व मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि बेहतर यही है कि अपने गुरु से तादात्म्य स्थापित करो, उनके साथ एकाकार हो जाओ। जिस प्रकार नमक जल में, चीनी दूध में और सुगन्ध वायु में घुल-मिल जाती है, ठीक उसी प्रकार गुरु से एकत्व स्थापित किया जाना चाहिए, द्वैतत्व को पूर्णतया समाप्त कर देना चाहिए। जल नमकीन हो जाता है और नमक तरल। वे एक-दूसरे के गुणों को अपना लेते हैं। इस प्रकार का एकत्व स्थापित होने पर गुरु की कृपा निरन्तर प्राप्त होती रहती है। किन्तु बातें हम कितनी भी करें, व्यावहारिक जीवन के तथ्य तो भिन्न ही होते हैं। मस्तिष्क अति कठोर पदार्थ का बना होता है, वह जल्दी टूटता नहीं, और सत्य को जानते हुए भी हम विफल हो जाते हैं।

गुरु और मन के छः साथी

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

गुरु पूर्णिमा एक ऐसा दिन है जब हम अपने गुरु के संकल्पों से अपने कर्मों को जोड़ सकें। हमारी संस्कृति में आदिकाल से गुरु परम्परा चली आई है जिसने हमलोगों को अपने जीवन को उत्तम बनाने की शिक्षा दी है, अपने जीवन में सात्त्विकता लाने की प्रेरणा दी है, जीवन के विकारों, क्लेशों एवं दुःखों से मुक्ति पाने का मार्ग बताया है। गुरु पूर्णिमा के अवसर पर हम अपने जीवन के इन सभी प्रेरकों का स्मरण करते हैं जिन्होंने हमें अच्छे मार्ग पर चलने की शिक्षा दी है और उनके प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करते हैं इस प्रार्थना के साथ कि आपके द्वारा बताये गए मार्ग पर हम चल पाएँ, यही आशीर्वाद दो, यही शक्ति दो।

संसार में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं, भोगी और योगी। जो योगी हैं, वही गुरु कहलाते हैं और वे भोगियों को यह समझाने का प्रयास करते हैं कि संसार में रहकर भी संसार के प्रभावों से अपने आप को कैसे मुक्त रख सकते हो। योगी की एक विशिष्ट चेतना रहती है और भोगी की भी। यहाँ पर मैं चेतना शब्द का उपयोग कर रहा हूँ जिसका सम्बन्ध मन, सजगता और जीवन के सभी व्यापारों-व्यवहारों के साथ होता है। योगी की चेतना ईश्वर से जुड़ी है और भोगी की चेतना संसार के विषयों से। जब योगी की चेतना ईश्वर से जुड़ती है तब उसे सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का आभास होता है और जब भोगी की चेतना संसार और संसार के विषयों से जुड़ती है तब उसे तनाव, चिन्ता और क्लेश का अनुभव होता है।

लेकिन मनुष्य जहाँ से आया है वहाँ न कोई तनाव है, न चिन्ता है, न क्लेश है। आप कहाँ से आये हो? इस शरीर में आने से पहले आप कहाँ थे? आप आत्मा रूप में थे। उस रूप में आपको सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् का आभास था और आप पूर्ण थे। उस रूप में आप और परमात्मा में कोई भेद नहीं था। लेकिन जब वह आत्मा, जो सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्

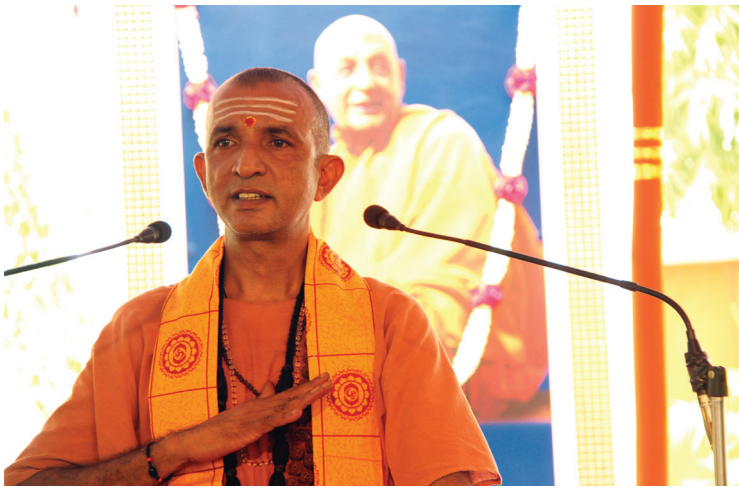

का अंश है, प्रकृति के क्षेत्र में प्रवेश करती है तब प्रकृति उसके स्वभाव को बाधित कर देती है।

यह शरीर जिसमें आत्मा प्रवेश करती है, पंच तत्त्वों से बना है। ये तत्त्व प्रकृति की विविध शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा प्रकृति निर्माण का कार्य करती है। प्रकृति एक तरह से ठेकेदार है जिसने पंच तत्त्वों का भवन बना दिया और जिसमें आत्मा ने प्रवेश कर लिया। पंच तत्त्वों से बना यह भवन प्रकृति के क्षेत्र में है, ईश्वर के अव्यक्त, अनादि, अचिन्त्य, अगोचर क्षेत्र में नहीं।

जब आत्मा प्रकृति द्वारा निर्मित शरीर में प्रवेश करती है तब उसके ऊपर माया का आवरण पड़ जाता है और वह अपने शुद्ध स्वरूप को भूल जाती है। वह संसार से सम्बन्ध स्थापित करती है। संसार भी माया और प्रकृति की ही एक अभिव्यक्ति है। संसार से हम जो सम्बन्ध स्थापित करते हैं वह इन्द्रियों के माध्यम से होता है। आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, त्वचा स्पर्श करती है, जिह्वा स्वाद लेती है, नाक सूँघता है, पैर चलते हैं, हाथ काम करते हैं। इन सब इन्द्रियों के द्वारा हम इस संसार में अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

रामचरितमानस में कहा गया है कि यह शरीर तामसिक है, क्योंकि इसने आत्मा के प्रकाश को कुण्ठित कर दिया है, बाधित कर दिया है, छिपा दिया है और आपका सम्बन्ध जोड़ दिया है इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियों के माध्यम से संसार के विषयों के साथ। आप के भीतर जो सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की स्थिति थी, सजगता थी, चैतन्यता थी, वह अब समाप्त हो गई और आप सामान्य व्यक्ति बन गये हो।

जब माया का आवरण आत्मा पर छाकर उसके प्रकाश को धूमिल कर देता है, बाधित कर देता है, तब मनुष्य की चेतना का सम्बन्ध जुड़ता है इन्द्रियों के साथ

जिनके द्वारा वह इस संसार में जन्म लेकर अपने कार्यों को सम्पन्न करने वाला है। इसके बाद मनुष्य का जन्म होता है माता के गर्भ से। उसकी शुद्ध आत्मा तामसिक देह में बंद है और तामसिक देह का प्रशिक्षण शुरू होता है। वह बच्चा, जिसने आज जन्म लिया, कालान्तर में अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर पाएगा, चलना सीख पाएगा, देखना सीख पाएगा, सुनना सीख पाएगा, सूँघना सीख पाएगा, स्वाद लेना सीख पाएगा, इन्द्रियों का उपयोग करने लगेगा और इन्द्रियों के उपयोग के द्वारा स्वयं को संसार से जोड़ेगा। इन्द्रियाँ माध्यम बन जाती हैं मनुष्य को संसार से जोड़ने के लिए और संसार में उसका व्यापार सम्पन्न कराने के लिये।

साथ ही इन्द्रियाँ माध्यम बनती हैं मनुष्य का अपने छः मित्रों के साथ परिचय कराने का। ये छः मित्र जीव को इस संसार में जीने की कला सिखलाते हैं। ये छः मित्र कौन हैं? काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। लोग कहते हैं कि ये छः शत्रु हैं, लेकिन अगर गौर करें तो ये शत्रु कैसे हुए? 'काम' आपका मित्र है। हमेशा आपके मन में बैठे रहता है, वहीं उसका आसन जमा हुआ है। 'क्रोध' आपका मित्र है, उसका भी एक आसन जमा हुआ है जहाँ पर वह बैठे रहता है, सबको देखते रहता है और अनुकूल नहीं होने पर बिगड़ता है। जब 'क्रोध' बिगड़ता है तो आप भी बिगड़ते हो। इसलिए ये शत्रु नहीं हैं। मेरी बात समझ में आ रही है न? काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य को शास्त्र षड्रिपु अर्थात् छः शत्रु कहते हैं, लेकिन हम कहते हैं कि जब इन्होंने ही हमें बचपन से सम्भाला है तो फिर हमारे शत्रु कैसे हुए?

हमने जन्म लिया, खेले-कूदे, उस समय आध्यात्मिक ज्ञान नहीं था। स्कूल-कॉलेज गए, आध्यात्मिक अनुभव नहीं था उस समय भी, न सोच थी न परवाह थी। शादी की, व्यापार किया, नौकरी की, उस समय भी आध्यात्मिक प्रवृत्ति नहीं थी। इस तरह जीवनभर इन छः साथियों ने हमारा साथ दिया है। काम के कारण हम सफल हो पाये हैं। क्रोध के कारण हम कुछ कर पाये हैं। लोभ के कारण हमने कुछ पाया है। मोह के कारण हम कुछ बने हैं। मद के कारण कुछ प्राप्ति हुई है। मात्सर्य के कारण कुछ इच्छा हुई है।

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मात्सर्य—ये सब हमारे साथी हैं और इन्होंने ही हमें आज तक प्रेरित किया है। लोभ ने, मोह ने हमारे व्यवहार, विचार और कर्मों को प्रेरित किया है और आज भी प्रेरित करते रहते हैं। कौन माई का लाल है जो अपनी माँ से कह सके कि तुम मेरी माँ नहीं हो या अपने पिता से कह सके कि तुम मेरे पिता नहीं हो? मैं आत्मा हूँ, तुम भी आत्मा हो—किसी में यह कहने की हिम्मत नहीं, सब कोई माताजी-पिताजी कहते हैं, मतलब पंच तत्त्व की पहचान हो रही है, उसके भीतर बैठी आत्मा की नहीं। कोई यह नहीं कहेगा कि माताजी, आप शारीरिक दृष्टि से मेरी माता भले ही हैं, लेकिन वास्तव में आप भी वही आत्मा हैं जो मैं हूँ। भाव में भेद आ जाता है और इस पूरे क्रम में हमारा सहयोग देते हैं ये छः साथी।

जीवन इन छः साथियों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन तो जाता है, लेकिन एक मोड़ ऐसा भी आता है जब आत्मा में तनाव उत्पन्न होने लगता है। आत्मा तुमसे कहती है, 'भई, मुझे तुमने कटघरे में बन्द कर दिया केवल जिंदा रहने के लिए? काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य जैसे तुम्हारे साथी ही सब कुछ करते हैं। मेरा तो कोई काम ही नहीं। केवल तुम्हें जीवित रखना मेरा काम है।' बहुत बार जब आत्मा परेशान हो जाती है तो शरीर छोड़ देती है और आदमी सोचता है कि मैं क्यों मर गया। बहुत बार आत्मा अपने सुख के लिए भी प्रयत्न करती है। धीरे-धीरे वह मन को कुछ संकेत भेजती है कि चिन्ता हो रही है, चिन्ता से मुक्ति होनी चाहिए, तनाव हो रहा है, तनाव से मुक्ति होनी चाहिए, बीमार पड़ रहे हैं, बीमारी से मुक्ति होनी चाहिए। जैसे-जैसे ये विचार मन में आते हैं और आदमी अपने आप को संसार में असहाय और व्यथित पाता है तब उसकी खोज की दिशा मुड़ती है आध्यात्मिकता की ओर। आध्यात्मिकता की खोज पहले मात्र एक चिन्तन होती है, लेकिन यही चिन्तन फिर व्यक्ति को गुरु के पास लाता है।

गुरु का काम क्या होता है? हम लोग तो अपने गुरु को अपना सब कुछ बना देते हैं। कहते हैं– *त्वमेव सर्वं मम देव देव,* लेकिन हम इस संबंध को ठीक से समझ नहीं पाते। सोचते हैं कि गुरु बनाने का मतलब हमने एक ऐसे व्यक्ति को पा लिया है जिसने हमारे जीवन की सभी समस्याओं को क्षणभर में दूर करने का दायित्व ले लिया है। नहीं, यह विचार गलत है। बहुत-से लोग गुरु के पास चमत्कार के लिए जाते हैं, लेकिन गुरु का वह काम है ही नहीं।

चमत्कार करना गुरु का नहीं, ईश्वर का काम है। जैसे किसी बड़े उद्योग में क्लर्क से लेकर अधिकारी तक सबका काम बँटा हुआ रहता है वैसे ही जीवन में भी सभी का

कार्यक्षेत्र बँटा हुआ है। ईश्वर का भी बँटा है, गुरु का भी बँटा है और एक गृहस्थ का भी बँटा है। ईश्वर का काम है आशीर्वाद देना, गुरु का काम है तुम्हें वह रास्ता बताना जिसके द्वारा तुम अपने जीवन को सम्भाल सकते हो और तुम्हारा काम है गुरु द्वारा बताये गए मार्ग पर चलना। यहीं से गुरु और शिष्य का सम्बन्ध शुरू होता है।

जीवन में क्लेश, तनाव या दु:ख कब उत्पन्न होता है? जब अपने छ: साथियों द्वारा हम विचलित होते हैं। तब जाकर मानसिक क्लेश या तनाव या चिन्ता की उत्पत्ति होती है। जब तक ये छ: मित्र हमारे साथ हैं और हमें तकलीफ नहीं देते, हम उन्हें अपने जीवन में बराबर स्थाई स्थान प्रदान करते जाते हैं। गुरु का काम वह तरीका बताना होता है जिससे तुम इन छ: साथियों के प्रभाव और आकर्षण से अपने आप को मुक्त कर सको।

जब तुम आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करते हो तब ये छ: मित्र, जिन्होंने जीवनभर तुम्हारा साथ दिया है, तुम्हें शत्रु के रूप में दिखलाई देने लगते हैं। तब तुम्हें अहसास होता है, 'अरे! इन्हीं के कारण तो मैं अपने जीवन के लक्ष्य से भटक रहा था। इन्होंने ही मुझे सम्मोहित कर दिया था। इन्होंने ही मेरे कर्मों को भ्रमित किया था। इन्होंने ही मुझे मूढ़ बना दिया था। ये ही मेरे बंधन और मेरी अशांति के कारण हैं।' तब जाकर ये छ: मित्र, जो जन्म से गुरु के पास आने तक तुम्हारे साथ रहे, तुम्हें शत्रु रूप में दिखलाई देंगे। तब जाकर गुरु के साथ सच्चा सम्बन्ध स्थापित होगा।

हमारी भारतीय परम्परा में गुरु का महत्त्व इसीलिए है क्योंकि उनके द्वारा हम अपने इन छ: साथियों को समझ सकते हैं, जीवन में उनके प्रभाव को जान सकते हैं और उनके बंधन से अपने आप को मुक्त करने का प्रयास कर सकते हैं।

–18 जुलाई 2013, गुरु पूर्णिमा महोत्सव, गंगा दर्शन

गुरु के प्रति समर्पण

स्वामी सत्यसंगानन्द सरस्वती

गुरु के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए शिष्य को चाहिए कि वह स्वयं को उनके प्रति पूर्णरूपेण समर्पित करे। जब आप अपने आपको पूरी तरह समर्पित करते हैं तो आप गुरु में पूर्णतया विलीन हो जाते हैं। अशेष समर्पण में ही आध्यात्मिक जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान निहित है। तब आपके लिये किसी आसन, प्राणायाम या क्रियायोग के अभ्यास की आवश्यकता नहीं रह जाती। आखिर जब आपका सीमित अस्तित्व ही समाप्त हो गया तब अभ्यास करेगा कौन?

ऐसा समर्पण कैसे सम्भव होता है? कोई साधक समर्पण के लक्ष्य तक कैसे पहुँच सकता है? वास्तव में समर्पण की कोई विधि या पद्धति नहीं होती। समर्पण के मार्ग पर समर्पण ही एकमात्र विधि है। अन्य मार्गों पर चलने की अनेक विधियाँ तथा तकनीकें हैं। अपनी प्रगति हेतु आपको इन विधियों एवं तकनीकों को अपनाना पड़ता है। आप इन पद्धतियों द्वारा अपनी शक्ति को जागृत एवं निर्देशित करने का प्रयास करते हैं, लेकिन समर्पण के मार्ग पर किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। या तो यह स्वत:स्फूर्त होता है, या फिर एकदम नहीं होता।

ज्यों ही आप समर्पण की कोई तकनीक अपनाते हैं, यह समर्पण नहीं रह जाता, क्योंकि तब आप एक आवरण, एक भ्रम निर्मित कर लेते हैं और जिस क्षण आप एक कपट रच लेते हैं, आप यथार्थ अनुभव से अलग हो जाते हैं। आप समर्पण की प्रक्रिया में पूर्ण रूप से लीन नहीं हो पाते। तकनीकों का उपयोग करने से आपका व्यक्तित्व कायम रहता है, किन्तु सम्पूर्ण समर्पण की स्थिति में आपका व्यक्तित्व पूर्णत: विलीन हो जाता है। जैसे ही आप स्वयं से प्रश्न करते हैं कि मैं कैसे समर्पण करूँ, आप समर्पण के उद्देश्य को अर्थहीन बना देते हैं। आप अपने आप से यह प्रश्न कैसे कर सकते हैं कि मैं कैसे प्रेम करूँ? प्रेम होगा तो अपने आप होगा, नहीं तो बिल्कुल नहीं होगा। आप स्वयं को प्रेम करने का प्रशिक्षण नहीं दे सकते। यह एक नैसर्गिक, निरन्तर जारी रहने वाली प्रक्रिया है। सच्चे प्रेम में ऐसी कोई भी सुरक्षा व्यवस्था नहीं होती जिससे आप चिपके रहें। आपको प्रेम के लिये सर्वस्व न्योछावर कर देना पड़ेगा।

समर्पण के साथ भी यही बात लागू होती है। प्रेम और समर्पण में गहरा सम्बन्ध है। वे साथ-साथ चलते हैं, उनमें सह-अस्तित्व होता है। जहाँ सच्चा प्रेम है, वहाँ समर्पण भी है। हम भले ही सोचें कि हम अपने माता, पिता, पति या पत्नी से प्रेम करते हैं, किन्तु क्या वहाँ पूर्ण समर्पण है? जिस व्यक्ति के प्रति आपने स्वयं को समर्पित कर दिया है, क्या उसके सामने आपका अस्तित्व पूर्णत: समाप्त हो गया

है? यदि नहीं, तो आपका प्रेम शर्तों एवं सीमाओं में बँधा हुआ है, इसलिए यह सच्चा प्रेम हो ही नहीं सकता।

गुरु के साथ अपने सम्बन्धों के बारे में भी शिष्य प्राय: धोखे में रहता है। वह सोचता है कि मैं गुरु से प्रेम करता हूँ तथा उनके प्रति पूर्णतया समर्पित हूँ, किन्तु शर्तें एवं सीमाएँ बनी रहती हैं। उसका प्रेम मन-बहलाव होता है तथा समर्पण एक दिखावा।

सम्पूर्ण समर्पण की स्थिति में शिष्य के मन का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, उसके अहंकार का लोप हो जाता है। वह पूरी तरह खुला, पारदर्शी और निष्कपट बन जाता है। गुरु के समक्ष उसकी अपनी कोई रुचि, पसन्द या विकल्प नहीं रह जाता। वह एक सेवक, एक दास बन जाता है, उसका सम्पूर्ण अस्तित्व गुरु को ही अर्पित होता है।

ऐसा हो जाने पर शिष्य के जीवन में वास्तविक गुरु-कृपा की वृष्टि होने लगती है, क्योंकि उसने स्वयं को पूर्णरूपेण रिक्त कर लिया है, वह पूर्णतया ग्रहणशील बन गया है। उसने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया है, अब उसके पास कुछ नहीं है। वह एक बच्चे के समान समस्त आवरणों एवं सीमाओं से रहित हो गया है। जब गुरु ऐसे शिष्य में शक्ति का सम्प्रेषण करते हैं तो उसके जीवन को पूर्ण रूप से रूपान्तरित कर देते हैं।

इससे स्पष्ट है कि शिष्य के लिए समर्पण करना अत्यंत श्रेयस्कर है, किन्तु यह आसान नहीं है। यह संसार का सर्वाधिक कठिन कार्य है। आसन, प्राणायाम, जप, क्रियायोग आदि सहज हैं क्योंकि उनकी निश्चित विधियाँ हैं। आप कोई भी विधि अपनाने के लिये प्रशिक्षण प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन समर्पण के लिये कोई प्रशिक्षण नहीं है।

अब प्रश्न उठता है कि शिष्य द्वारा गुरु के प्रति सम्पूर्ण समर्पण के मार्ग में कौन-सी बाधा या अवरोध है, और यह इतना दु:साध्य क्यों है? हम सभी लोग अहंकार के साथ और अहंकार में केन्द्रित रहते हैं। 'मैं-पन' के भाव से युक्त होकर हम अपनी सम्पूर्ण जीवन-यात्रा तय करते हैं। यह भाव एक कवच के समान है, जिसका उपयोग हम अपनी सुरक्षा के लिये करते हैं। स्व-व्यक्तित्व की पहचान के अभाव में हम स्वयं को निराश एवं दयनीय रूप से खोया हुआ अनुभव करते हैं।

पहचान का यह भाव आपके दैनिक सांसारिक जीवन में प्रासंगिक हो सकता है, किन्तु गुरु-शिष्य सम्बन्ध एवं आपके आध्यात्मिक जीवन के प्रसंग में यह सबसे बड़ा अवरोध है। आपके तथा सम्पूर्ण समर्पण के बीच की बाधा यह अहंकार ही है। आपका अहंकार आपको समर्पण करने से रोकता है। आपके अन्दर का अहंकार मरना नहीं चाहता। वह जानता है कि समर्पण के साथ ही वह पूर्णत: विकलांग हो जायेगा। अत: सम्पूर्ण समर्पण के खतरों के बारे में वह आपको सदैव सलाह देता रहेगा और चूँकि आप 'मैं-पन' के भाव से अत्यधिक मदहोश और पूर्णत: मोहित रहते हैं इसलिए आपका अहंकार आपको पराभूत करने में सफल हो जाता है। आप उसके सामने समर्पण कर देते हैं। इस प्रकार साधक के जीवन में गुरु के प्रति समर्पण तथा अपने अहंकार के प्रति समर्पण के भावों के बीच निरन्तर संघर्ष चलता रहता है।

यदि आप अपने अन्दर की इस प्रतिरक्षा व्यवस्था के प्रति सजग एवं अहंकार के क्रिया-कलापों के प्रति सचेत हो सकें तो यह स्वत: विखंडित और विगलित होने

लगेगा, क्योंकि ज्योंही आप किसी समस्या पर अपनी सजगता को केन्द्रित करते हैं, उसका अपने आप समाधान होने लगता है। सतत् सजगता के द्वारा आपका अन्तर्निहित अहंकार क्रमश: दुर्बल होता जाता है और यदि आप इस बात के प्रति बहुत सतर्क रहें कि अहंकार को सशक्त होने का कोई अवसर न मिले तो एक दिन आप अनुभव करेंगे कि आपका 'मैं-पन' का भाव विलीन हो गया है। जैसे ही आप अनुभव करेंगे कि 'मैं नहीं हूँ', आप पूर्णत: समर्पित हो जायेंगे। समर्पण तभी सिद्ध होता है जब आप अहंकार के क्षेत्र का अतिक्रमण कर जाते हैं।

जब आप स्वयं को गुरु के प्रति समर्पित करते हैं तो आप एक गहरी घाटी या अगाध गर्त्त के समान हो जाते हैं। आप गहराई प्राप्त करते हैं, ऊँचाई नहीं। इस समर्पण का अनुभव अनेक प्रकार से हो सकता है। गुरु आप के अन्दर प्रकट होने लगते हैं, उनकी शक्ति आप में प्रवाहित होने लगती है। गुरु की शक्ति तो निरन्तर प्रवाहित हो रही है, किन्तु उसे प्राप्त करने के लिये आपको एक पात्र, एक गर्भ बनना होगा। आपको नीचे उतरना होगा, झुकना होगा। यदि आप उनसे ऊपर रहेंगे तो प्रवाहित होती यह शक्ति आप तक नहीं पहुँच सकेगी। अत: गुरु के सम्मुख नतमस्तक होइये।

गुरु के प्रति सामान्य समर्पण से भी शक्ति प्रवाहित होने लगती है। अचानक आप उस शक्ति के वाहक बन जाते हैं। हमने ऐसी अनेकों कहानियाँ सुनी हैं कि किस प्रकार मात्र एक स्पर्श या दृष्टि से अनेक लोगों को आत्मज्ञान प्राप्त हुआ। यह सम्भव है और इतिहास में ऐसा अनगिनत अवसरों पर हुआ है। आपकी आँखों में गुरु की एक दृष्टि पड़ने से भी आपका सम्पूर्ण व्यक्तित्व रूपान्तरित हो सकता है। किन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि आपकी आँखें रिक्त हों, वे दुराग्रहों एवं जटिलताओं से भरी हुई न हों। गुरु की दृष्टि को आत्मसात् करने के लिये आपको पूर्णत: रिक्त होना पड़ेगा।

गुरु के सान्निध्य में रहना ही शायद वह एकमात्र उपाय है जिसके द्वारा शिष्य अपने अहंकार के सूक्ष्म क्रियाकलापों के प्रति सजग हो सकता है। जीवन की अन्य समस्त परिस्थितियों में अहंकार और अधिक सशक्त होता है। हम नुकसान, हानि, दु:ख या दुर्दशा को स्वीकार नहीं कर पाते। हम इन कष्टों को स्वीकार करना भी नहीं चाहते, क्योंकि हम किसी के समक्ष समर्पण करने की आवश्यकता महसूस नहीं करते। हम दूसरों के द्वारा अपना शोषण या दुरुपयोग किये जाने के भय से आतंकित रहते हैं।

किन्तु यदि आप गुरु के साथ रह रहे हैं तो वे निरन्तर आपको समर्पण के लिये तैयार करते हैं। यह उनका प्राथमिक कार्य और उत्तरदायित्व है। वे आपके चेतन एवं अवचेतन मन को, अहंकार की शक्ति बढ़ाये बिना, कार्य करने का प्रशिक्षण देते हैं। वे ऐसी परिस्थितियों एवं घटनाओं का निर्माण करते हैं जिनसे शिष्य यह

समझने में सक्षम होता है कि किस प्रकार उसका अहंकार उस पर पूर्णत: हावी हो रहा है। धीरे-धीरे शिष्य अपने तथा गुरु के बीच अहंकार के इस अवरोध के प्रति अधिक सजग होता जाता है।

शिष्य कभी-कभी, थोड़े समय के लिये, अपने अहंकार को वशीभूत करने में सक्षम होता है तथा गुरु के प्रति सामान्य समर्पण का अनुभव करता है। उस समय गुरु के प्रति उसका विश्वास और प्रेम जाग्रत हो जाता है। वह अनुभव करता है कि इस समर्पण के द्वारा उसने कुछ ऐसा प्राप्त किया है जो अविश्वसनीय, आशातीत और अज्ञात है। यह कोई ऐसी बड़ी शक्ति है जिसकी कल्पना उसने स्वप्न में भी नहीं की थी। अब वह सम्पूर्ण समर्पण के लिये तैयार होता है। किन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि शिष्य गुरु-आश्रम में निवास करे तथा उन्हें उसके अहंकार के प्रति आवश्यक व्यवहार करने की अनुमति दे।

शिष्य यह सोचकर प्राय: आशंकित रहता है कि कहीं गुरु उसका शोषण न करें। उसे भय होता है कि यदि वह स्वयं को पूर्ण रूप से गुरु को समर्पित कर देगा तो भविष्य में उसका क्या होगा। कहीं गुरु उसके समर्पण का दुरुपयोग तो नहीं करेंगे, उससे फायदा तो नहीं उठायेंगे? पूर्ण समर्पण की इच्छा रखने वाले शिष्य के मन में इन सन्देहों के लिये कोई स्थान नहीं होना चाहिये। ये असत्य तो हैं ही, ये गुरु के प्रति उसके विचारों, भावनाओं और कार्यों को पूर्णत: दिग्भ्रमित कर देंगे।

शिष्य को यह अच्छी तरह स्मरण रखना चाहिये कि सम्पूर्ण समर्पण में उसका ही लाभ निहित है। यदि गुरु उसका शोषण भी करना चाहें तो प्राकृतिक नियम समर्पित शिष्य की रक्षा करते हैं। शिष्य का शोषण करने वाले तथा उसे धोखा देने वाले गुरु के कर्म उन पर ही प्रतिघात करेंगे और शिष्य पूर्णत: सुरक्षित रह जायेगा। इसके अतिरिक्त, कोई भी गुरु एक सच्चे एवं लगनशील शिष्य को कदापि नहीं ठगेगा और न उसका शोषण ही करेगा। इस तरह के चिंतन से अपने विश्वास और श्रद्धा को मजबूत कर शिष्य को समर्पण के मार्ग पर निर्भय हो अग्रसर होना चाहिए।

अंधों का अंधानुकरण

स्वामी शिवानन्द सरस्वती

किसी धर्मशाला में लगभग पचास व्यक्ति एक-साथ बैठे थे। सभी जन्मांध थे। वे एक ऐसे सुदूर तीर्थस्थान तक जाना चाहते थे जिसकी महिमा के बारे में उन्होंने बहुत कुछ सुन रखा था।

कुछ देर बाद चार और व्यक्ति वहाँ पहुँचे और इस गुट में शामिल हो गए। उन्होंने बताया कि वे भी उसी तीर्थस्थान की ओर जा रहे थे।

'मित्रों!' पचास नेत्रहीनों के नेता ने कहा, 'हम सभी दृष्टिहीन हैं और उस परम पवित्र स्थान तक पहुँचने में सक्षम नहीं हैं। क्या तुम हमें वहाँ तक ले जा सकते हो? क्या तुम्हारी आँखों में रोशनी है?'

'बिल्कुल ले चलेंगे प्रिय बन्धुओं!' उन चारों ने कहा, 'हमने उस पावन तीर्थस्थान और उस तक ले जाने वाले मार्ग के बारे में बहुत विस्तार से सुना है। पूरा रास्ता हमारे मानस पटल पर स्पष्ट रूप से अंकित हो गया है। हालाँकि हम भी नेत्रहीन हैं, लेकिन हमें पूरा विश्वास है कि हम न केवल अपने गन्तव्य तक पहुँचेंगे, बल्कि तुम सब को भी वहाँ तक पहुँचा देंगे। हमारे पीछे-पीछे आओ।'

उन्होंने एक लम्बी रस्सी एक-एक करके सबकी कमर में बाँध दी। उन चारों में से सबसे होशियार आदमी गुट का नेतृत्व करने लगा। हालाँकि उसे मार्ग का बौद्धिक ज्ञान तो था और उसने अपने मन में रास्ते की मानसिक तस्वीर भी बना रखी थी, पर सफर शुरू करने के बाद यह सब ज्यादा काम न आया। थोड़ी ही दूर चलने के बाद वह एक गहरी खाई में गिर गया। उससे बँधे बाकी अंधे भी एक-एक कर खाई में गिरकर मर गए।

आज आम जनता का यही हाल है। वे परम आनन्द, शांति और दिव्यता के धाम के बारे में सुनते हैं, लेकिन उन्हें उस धाम तक पहुँचने का मार्ग नहीं मालूम। इस मामले में वे अज्ञान के अंधेरे में भटकते दृष्टिहीनों की तरह होते हैं। उन्हें किसी मार्गदर्शक की प्रतीक्षा रहती है। इस बीच उन्हीं जैसे कुछ और दृष्टिहीन मंच पर आ जाते हैं। उन्होंने ईश्वर के साम्राज्य के बारे में बहुत कुछ सुन रखा होता है। उनकी बौद्धिक जानकारी और समझ भी बहुत होती है। वे सोचते हैं कि उन्हें रास्ता मालूम है। केवल इतना ही नहीं, वे मानते हैं कि वे दूसरों को भी वहाँ तक ले जा सकते हैं। इस तरह के लोग दार्शनिक और वैज्ञानिक कहलाते हैं। वे लोगों को शांति और आनन्द के धाम तक ले जाने का वादा करते हैं। लोग आसानी से उनके बहकावे में आ जाते हैं और उनका अनुसरण करने लगते हैं। इन नेताओं की बुद्धि भले ही तीव्र हो, पर न तो उनमें संयम और अनुशासन होता है, न ही आध्यात्मिक पथ

का कोई अनुभव। वे वहीं चल पड़ते हैं जहाँ उनकी कामनाएँ और वासनाएँ उन्हें खींच ले जाती हैं। वे भौतिकवाद और भोगवाद की गहरी खाई में गिरकर खत्म हो जाते हैं। यही हाल उनके अनुयायियों का भी होता है।

हे अमृतपुत्रों! मेरी बात ध्यान से सुनो, ऐसे अंधे लोगों के पीछे मत भागो। बल्कि ऐसे तत्त्वदर्शी संतों, महात्माओं और मनीषियों का अनुसरण करो जो प्रज्ञा-चक्षुओं से युक्त हैं, जो तुम्हें वास्तव में परमानन्द के साम्राज्य तक ले जा सकते हैं।

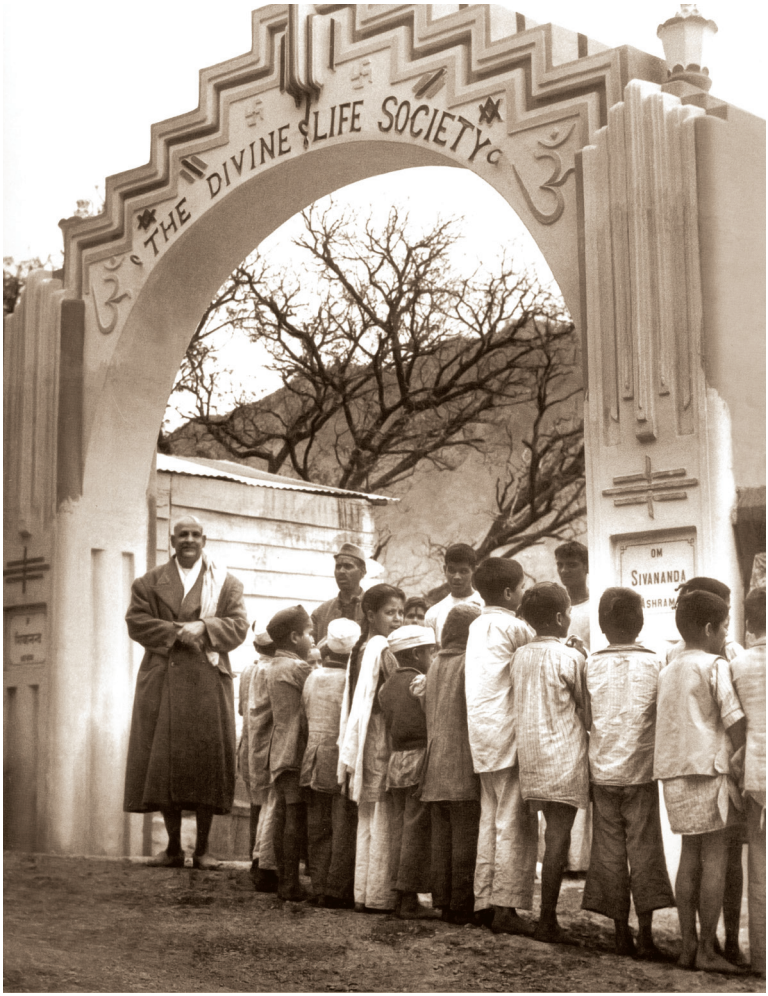

गुरु पूर्णिमा संदेश

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

गुरु पूर्णिमा को व्यास पूर्णिमा भी कहते हैं। व्यासदेव जी का वास्तविक नाम था कृष्णद्वैपायन। काले थे इसलिए उनका नाम पड़ा कृष्ण, उनका गर्भाधान द्वीप में हुआ था, इसलिए उनको द्वैपायन कहते हैं और व्यास इसलिए कहते हैं कि उन्होंने वेदों को और ज्ञान को वैसे ही जोड़ा जिस तरह से एक जिल्दसाज कई कागजों को मिलाकर किताब को सिलता है। जिल्दसाजी की, सिलाई का काम किया, इसलिए उनको कहते हैं व्यास। व्यासदेव जी ने वेद लिखे नहीं हैं, उनका संकलन किया है। और अठारह पुराणों का भी संकलन किया।

पुराण का मतलब होता है, पहले की जानकारी। पुरा माने पहले और 'ण' का तात्पर्य ज्ञान से है। पहले के इतिहास को एक अलंकारिक ढंग से उन्होंने अठारह पुराणों में प्रस्तुत किया है। ये पुराण किसी की कल्पना नहीं हैं। कल्पना जैसे लगते हैं, क्योंकि पुराणों में उन्होंने तीन अलंकारों का खुलकर प्रयोग किया है। उनमें एक अलंकार है अतिशयोक्ति, दूसरा है रोचक और तीसरा है भयंकर। उन्होंने इन अलंकारों का भरपूर प्रयोग किया है ताकि तुम लोगों को याद रह सके। अभी तुम लोगों को तो इतिहास कई बार पढ़ना पड़ता है इम्तहान के लिए, फिर भी याद ही नहीं रहता। इसलिए उसके साथ अतिशयोक्ति अलंकार जोड़ दिया, जिसकी वजह से लोगों को याद रहने लग गया।

पुराणों के बाद उन्होंने महाभारत लिखा है। महाभारत इतिहास है। हमारे यहाँ दो इतिहास हैं, रामायण और महाभारत। ये पुराणों में नहीं आते हैं। जब व्यासदेव ने महाभारत लिखा उस समय इसका नाम यह नहीं था, इसका नाम था 'जयम्'। इसलिए '*ततो जयमुदीरयेत्*' यह वाक्य आता है। यह एक युद्ध की व्याख्या है। बाद में इसका नाम पड़ा भारत, इण्डिया। जब भारत के लोगों ने उपनिवेषों की स्थापना की, एक ओर नेपाल की तरफ बढ़े, दूसरी ओर अफगानिस्तान की तरफ बढ़े, इधर बर्मा और थाइलैंड की ओर बढ़े, तब इसका नाम पड़ा महाभारत, ग्रेटर इण्डिया। घर में झगड़ा होता है तो कहते हैं महाभारत हो गया। लेकिन यह इसका सही अर्थ नहीं है। महाभारत का मतलब होता है, ग्रेटर इण्डिया।

महाभारत लिखने के बाद व्यासदेव जी को विषाद हो गया था। वे बहुत निराश हो गए, बहुत दु:खी हुए। उनमें बहुत अशान्ति थी, क्योंकि उन्होंने एक ऐसा ग्रंथ लिखा जिसमें युद्ध है, अन्याय है, स्त्री पर अत्याचार है। तब उन्होंने नारद जी से पूछा, 'भगवन्! हमें बहुत बुरा लग रहा है, क्या करें?' नारद जी ने कहा, 'अगर बहुत बुरा लग रहा है तो एक काम करो। तुम भगवान के बारे में कुछ लिखना

शुरू कर दो। तुम्हारा दिमाग अपने-आप ठीक हो जाएगा।' तब व्यासदेव जी ने श्रीमद्भागवत लिखना शुरू किया, जिसमें केवल भक्ति ही भक्ति, प्रेम ही प्रेम है। तब जाकर व्यास जी को शान्ति मिली। उनका ही यह जन्मदिन गुरुपूर्णिमा के रूप में मनाया जाता है। शंकराचार्यजी के समय से यह परम्परा चली कि सभी लोग इसी दिन अपने गुरु को पूजते हैं। जिसका जो भी गुरु हो, व्यासपूर्णिमा के दिन ही गुरु की पूजा होती है।

साधु-संन्यासी जब तक गुरु-पद पर रहता है, तब तक ही वह पूजा स्वीकार करता है। लेकिन एक समय जब वह लोकसंग्रह का त्याग करता है, लोकसंग्रह का त्याग माने लोगों से कुछ मतलब नहीं, दुनिया से कोई मतलब नहीं, अपना अकेला

रहता है, उस वक्त वह गुरु-पद से सेवा-निवृत्त हो जाता है। हम सेवा-निवृत्त गुरु हैं। अभी हमारी उम्र अस्सी के करीब है, हमारा जाने का समय है। आदमी जा रहा है और फिर भी चेलों के गफले में पड़ा हुआ है, यह ठीक नहीं। चेलों के गफले से छूटना चाहिए। आखिर जब तुम कहीं जाते हो तब जाने की तैयारी करते हो कि नहीं। इस दुनिया को जब छोड़ने का समय आ गया, जब पता चल ही गया कि तुम्हें जाना है तब फिर तैयारी क्यों नहीं होती है? गफले में आदमी क्यों पड़ा रहता है? तू मेरा चेला मैं तेरा गुरु, तू मेरी बेटी मैं तेरा बाप, ये सब फालतू बातें हैं।

सम्बन्धों की मर्यादा होती है और उसी तरह उत्तरदायित्वों की, जिम्मेवारियों की भी मर्यादा होती है। मरते दम तक किसी की कोई जिम्मेवारी नहीं होती है, चाहे वह जिम्मेवारी पिता की हो या पुत्र, पति, पत्नी या किसी और की। हर चीज की एक मर्यादा होती है और वह मर्यादा नहीं रहने से फिर अराजकता आ जाती है। अगर हम मरते दम तक आश्रम की गद्दी पर बैठे रहें तो चेले झगड़ते हैं। वे आपस में कहते हैं कि मैं गद्दी का हकदार हूँ। इसलिए पहले से ही किसी को दे दो, वह संभाले अपना। हमने सन् 1983 में काम छोड़ दिया, जिम्मेवारी छोड़ दी। 1983 से अब तक 17 साल हो गये, 17 साल से स्वामी निरंजन संभाल रहे हैं। जो 17 साल निभा सकता है वह अगले 17 साल भी निभा लेगा।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध

दुनिया में ऐसे तीन सम्बन्ध होते हैं जो एक से ही किये जाते हैं, अनेक से नहीं। एक तो पति और पत्नी का, दूसरा गुरु और शिष्य का और तीसरा भगवान और जीव का। जैसे पति की एक ही पत्नी होती है, वह दूसरी पत्नी नहीं रख सकता है। रखते हैं लोग, मगर उसको उचित नहीं मानते। वैसे ही पत्नी का एक पति होता है, वह दूसरा पति नहीं कर सकती है। करती है तो उसको अनुचित कहते हैं। जिस प्रकार पति और पत्नी के बीच 'वन-टू-वन' का सम्बन्ध है, उसी प्रकार गुरु और शिष्य में भी एक-से-एक का सम्बन्ध होता है, एक-से-अनेक का सम्बन्ध नहीं होता। ऐसा नहीं कि मर्जी आई तो आज मेरे साथ, कल मर्जी हुई तो बाबा धर्मानन्द के साथ, परसों मर्जी आई तो बाबा कर्मानन्द के साथ! हाँ, सत्संग सबसे होता है, परन्तु गुरु का सम्बन्ध एक के साथ ही होता है। यह न केवल हमारी मर्यादा है, बल्कि ईसाइयों, मुसलमानों, जैनों और अन्य धर्मों की भी है।

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध वन-टू-वन का है, पति और पत्नी का सम्बन्ध भी वन-टू-वन है और दोनों सम्बन्धों में गहराई बराबर-सी ही है। फर्क इतना है कि एक तरफ सम्बन्ध की मर्यादा शरीर और भावना है, जबकि दूसरी तरफ सम्बन्ध की मर्यादा आत्मा है। गुरु और शिष्य में सम्बन्ध आत्मा से होता है, शरीर से कोई मतलब नहीं। हम लोगों के यहाँ तो यह कहा ही जाता है, ईरान में एक बहुत बड़े

व्यक्ति हुए, जलालुद्दीन रूमी। वे सूफी थे और हमेशा यही कहा करते थे कि गुरु और शिष्य देखने में भले दो होते हैं, लेकिन हकीकत में एक ही होते हैं।

हम लोग बीसवीं शताब्दी के हैं। हमारा आधुनिक दिमाग बड़ा विचित्र है। आज का आदमी बहुत चंचल है, बड़ी-बड़ी बात कहता है। वह यह कहेगा जरूर कि गुरु और शिष्य एक होते हैं, मगर इस बात को व्यवहार में नहीं उतार सकता। जब व्यवहार का समय आता है तब गुरु-शिष्य के बीच एकता नहीं हो पाती। और मजे की बात है कि जितने भी चेले होते हैं उनको बढ़िया गुरु ही चाहिए, थोड़ी-सी भी कमी हुई तो छोड़ देते हैं!

किसी भी गुरु का बढ़िया होना शिष्य की भावना पर निर्भर है। इस बात को ध्यान से सुन लो! हम बढ़िया आदमी नहीं हैं, मगर तुम्हारे लिए बढ़िया हैं, क्योंकि तुम्हारी भावना अच्छी है। इसी तरह अगर घर में तुम्हारा पति बहुत अच्छा है तो इसका मतलब यह नहीं कि तुम्हारा पति सचमुच वैसा है, बस तुम्हारी समझ अच्छी है। इस बात को अच्छी तरह समझ लो, यह केवल गुरु के बारे में नहीं, बल्कि पति-पत्नी के बारे में भी लागू होती है। 'मेरी पत्नी तो बहुत झगड़ालू है, बहुत तंग करती है', इसका मतलब है कि पतिदेव की समझ ठीक नहीं है। पति अगर अपनी स्त्री में दोष देखता है तो दोष पत्नी में नहीं, पति की दृष्टि में है। दृष्टि-दोष के कारण ही पति को पत्नी में और पत्नी को पति में दोष दिखलाई पड़ता है। ऐसे ही शिष्य को गुरु में भी दोष दिखाई पड़ता है।

अब एक बात तुमको साफ-साफ बोलता हूँ। एक राजमिस्त्री ईंटों को लेता है और बड़ा सुन्दर महल तैयार करता है। लेकिन उस सुन्दर महल में कहीं ईंटों का भद्दापन दिखाई नहीं देता। उसी तरह से एक दर्जी साधारण कपड़े को लेकर सुन्दर वस्त्र तैयार करता है, फैशन शो वाली लड़कियों को पहनाकर मिस इण्डिया बना देता है। मेरे कहने का मतलब यह कि शिष्य का बढ़िया होना जरूरी नहीं है। हर एक यह सोचता है कि, 'हे भगवान! मुझे एक अच्छा चेला दो', लेकिन अगर अच्छा चेला मिल गया तो गुरु किस काम का? तब तो वही तुम्हारा गुरु हो गया! अगर चेला बढ़िया होता तो फिर गुरु की जरूरत ही नहीं पड़ती। चेले का मतलब घटिया। अगर डॉक्टर सोचे कि मेरे क्लिनिक में कोई बीमार आए ही नहीं, तो फिर डॉक्टर किस काम का! जैसे डॉक्टर के यहाँ बीमार ही जाते हैं वैसे ही गुरु के यहाँ सब मूर्खों को ही आना चाहिए। तब तो ज्ञान देगा न? अगर तुम ज्ञानी हो जाओ तो फिर तुम्हें मुझसे कोई मतलब ही नहीं है। घर में बैठे रहो, ज्ञानी तो हो ही गए हो।

इसी तरह, अगर गुरु परिपूर्ण हो तो फिर वह गुरु नहीं बनना चाहता है। जब परिपूर्णता की अवस्था आती है तब व्यक्ति में गुरु बनने की आकांक्षा नहीं रहती है। यह पक्की बात तुम्हें बता रहा हूँ ताकि कोई गलती न करे। सभी परिपूर्ण गुरु चाहते हैं, मगर परिपूर्ण गुरु, गुरु बनने लायक नहीं रहता। दक्षिण भारत में एक

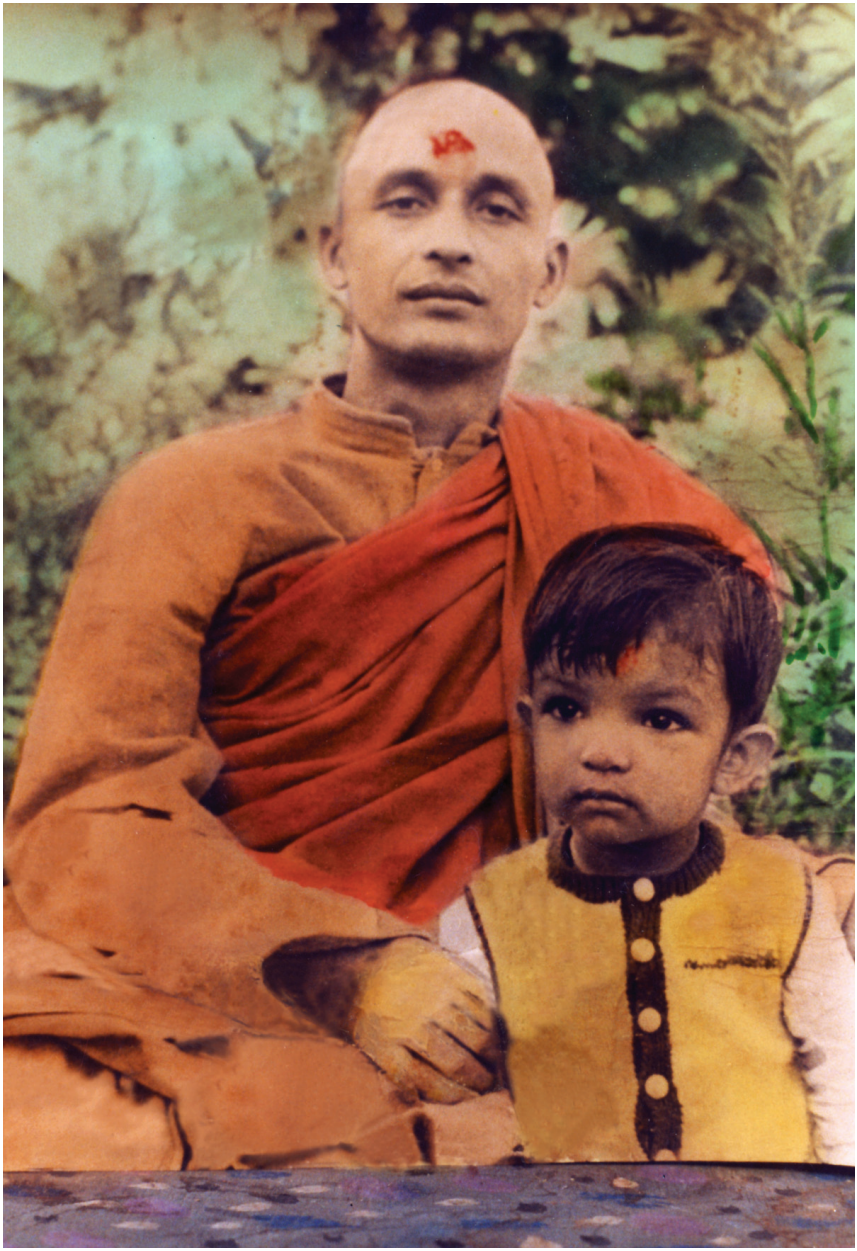

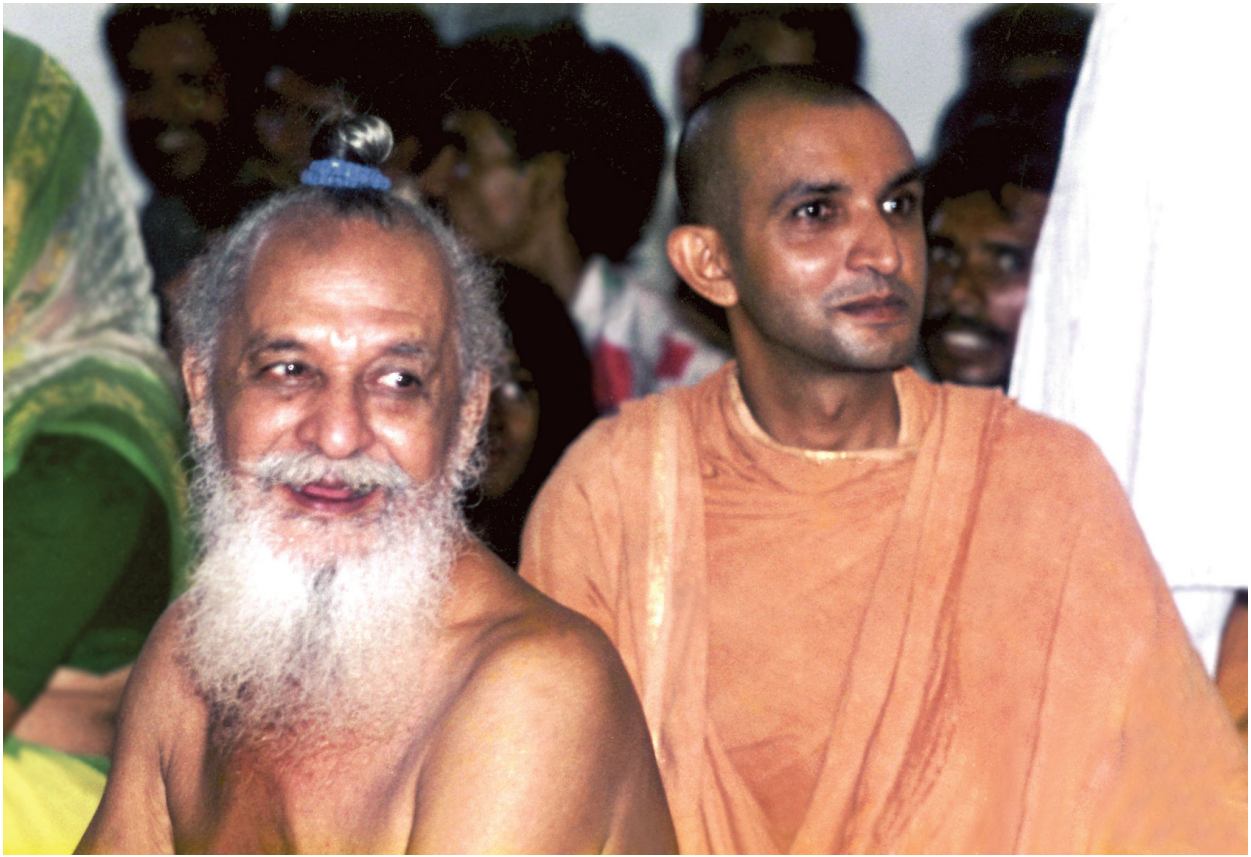

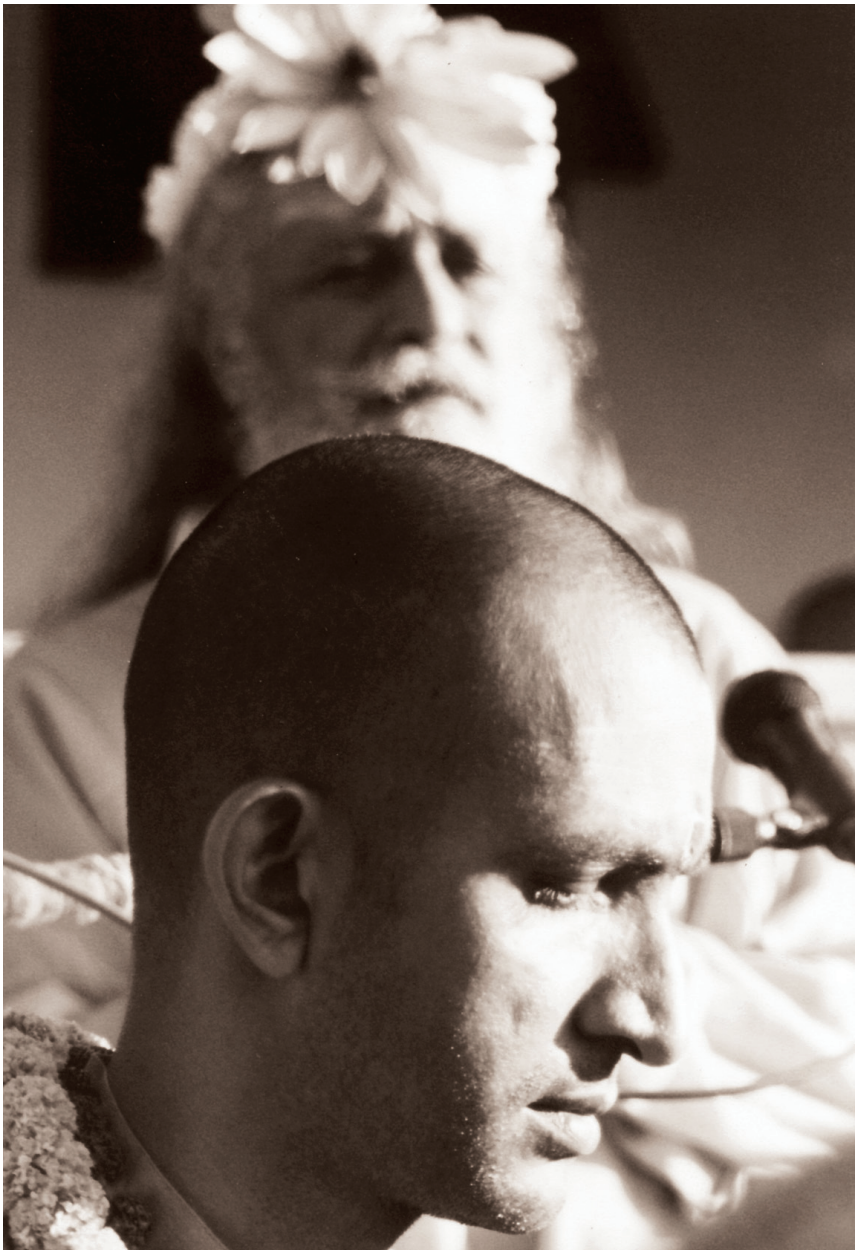

महात्मा थे जिनका नाम रमण महर्षि था। वे किसी से बात नहीं करते थे, एकान्त में बैठे रहते थे। उनसे मिलने के लिए बहुत-से लोग आते थे। सन् 1941-42 की बात कह रहा हूँ। वे बड़े उच्चकोटि के महात्मा थे, दक्षिण भारत में अरुणाचलम् के पास तिरुवन्नमलई में रहते थे। कोई आश्रम नहीं बनाया उन्होंने। वहीं एक सेठ ने उनको एक छोटी-सी जगह दे दी। वे दिनभर पैर पसारकर पड़े रहते थे, कोई उनसे उपदेश देने के लिए कहता तो वे कहते थे, 'नान यार', 'अपने को खोजो'। इतना ही बोलते थे वे। कभी उपदेश नहीं देते थे। परिपूर्ण गुरु का यह हाल होता है।

जो गुरु विदेहमुक्त होते हैं, जिन्हें अपने शरीर की जानकारी तक नहीं होती, जिन्हें कष्ट या आराम, दु:ख या सुख की जानकारी नहीं होती और जिनके मन में द्वैत-भाव नहीं रहता, वे गुरु न शिक्षा देते हैं और न ही दे सकते हैं। गुरु वही बन सकता है जिसके मन में द्वैत-भावना होगी। इसलिए शिष्य को कभी यह नहीं सोचना चाहिए कि मेरा गुरु परिपूर्ण हो। अगर तुम्हारी भावना शुद्ध है तो तुम्हारे लिए तुम्हारा गुरु अपने आप परिपूर्ण हो जाता है।

गुरु के साथ शिष्य का जो सम्बन्ध होता है उसमें पहला पहलू है गुरु और शिष्य का एक साथ रहना, दूसरा शिष्य गुरु की सेवा करे और तीसरा गुरु के प्रति उसके मन में भक्ति हो। गुरु और ईश्वर, ये दो प्रमुख तत्त्व होते हैं आध्यात्मिक जीवन में। इनमें गुरु का स्थान पहले आता है, क्योंकि सबसे पहले दरबान, उसके बाद मालिक।

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काकें लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपनो, जिन गोविन्द दियो मिलाय॥

ईश्वर की प्रतीति

हर व्यक्ति के अन्दर ईश्वर का निवास है, किन्तु उसका अनुभव नहीं होता। मेरे अन्दर, तुम्हारे अन्दर, सबके अन्दर परमात्मा उपस्थित है, किन्तु पता नहीं चलता कहाँ पर है। ढूँढते हैं तो मिलता नहीं है। वे बैद्यनाथ या किसी और मन्दिर में भले ही दिखाई देते हैं, पर अन्दर में नहीं दिखाई देते। संत-महात्माओं ने कहा है कि ईश्वर तत्त्व को गुरु तत्त्व ही प्रकट करता है।

गोपियों और श्रीकृष्ण के बीच क्या सम्बन्ध था? प्रेम-रस का। जब तक गोपियों को भगवान कृष्ण का साहचर्य मिलता था, तब तक रास लीला होती थी, पर जब वे वृन्दावन-मथुरा छोड़कर द्वारिका चले गए, गोपियाँ तो पीछे ही रह गईं। परन्तु गोपियों को भगवान कृष्ण की अनुपस्थिति का कभी अनुभव नहीं हुआ, बल्कि उनके विरह का अनुभव हुआ। विरह और उपस्थिति का अनुभव समान है, क्योंकि जब किसी के विरह की भावना तुम्हारे मन में आती है, तब उस व्यक्ति की उपस्थिति का अनुभव भी होता है। गोपियाँ विरह से आकुल हो जाती थीं और उस विरह की वजह से उन्हें श्रीकृष्ण की उपस्थिति की अनुभूति नित्य-निरंतर अपने अन्दर में होती रही। जब भगवान कृष्ण ने उद्धव को मथुरा भेजा कि गोपियों को जाकर देख आओ तब गोपियों ने उनसे कहा– *उधो मन नाहीं दस-बीस, एकहु ते सो गयो श्याम संग, कौन अराधे ईश।*

मन तो एक है, चेतना एक है। जब एक बार वह किसी व्यक्ति में लग गई तो उसी में लग गई। अब वह चाहे द्वारिका में बसे या बद्रीनाथ में, अपने को उससे कोई मतलब नहीं है। वह तो सदा मेरे अन्दर है। जो अन्दर की चीज है उसका अनुभव कराने के लिए पहले गुरु के साथ सम्बन्ध होता है और इस सम्बन्ध का भी आधार है प्रेम। प्रेम दो तरह का होता है, एक तो वह जो दुनिया में तुम देखते हो और दूसरा जो अन्दर का होता है। भगवान की उपस्थिति का नित्य-निरंतर अनुभव करने के लिए पहले गुरु की उपस्थिति का अपने अन्दर अनुभव करना पड़ता है। इसके लिए अगर

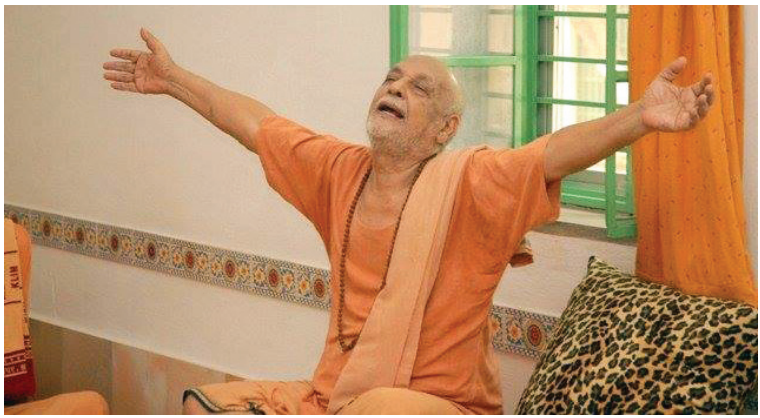

कोई सोचे कि हम गुरु के घर में ही रहें, उनके कमरे में ही रहें तो उसकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि दो व्यक्तियों के प्रेम में भौगोलिक दूरी कोई मायने नहीं रखती।

एक ईसाई सन्यासी थे, ब्रदर लॉरेन्स। उन्होंने एक चिट्ठी लिखी थी जिसमें एक ही बात कही थी कि जिस तरह से मनुष्य को भय का अनुभव होता है, वैर की प्रतीति होती है, वैराग्य और अनुराग की प्रतीति होती है या शारीरिक वेदना का अनुभव होता है, ठीक उसी तरह से हर व्यक्ति को ईश्वर की प्रतीति भी होनी चाहिए। हम लोग भले ही मन्दिर में जाएँ, तीर्थ करें, मगर भगवान की प्रतीति नहीं होती। हम उन्हें भूल जाते हैं। हमें बेटा याद रहता है, मरे हुए दादा की याद आती है, दुश्मन की बराबर याद बनी रहती है, मगर भगवान की याद नहीं रहती। एक छोटी-सी बात, यदि तुम्हारा किसी से झगड़ा हो जाए तो तुम्हें खाते समय भी गुस्सा आता है, रात में नींद नहीं आती, उसी का ख्याल आता है। किसी आदमी से दुश्मनी हो गई तो उसके साथ इतनी प्रतीति होने लगी और जो भगवान तुम्हारे अन्दर है उसकी प्रतीति ही नहीं होती!

मनुष्य का मिशन

इस गुरु पूर्णिमा के दिन, सबसे कठिन मिशन जिसे पूरा करने का संकल्प मनुष्य को लेना है, चाहे वह गृहस्थ हो या साधु, पुरुष हो या स्त्री, चाहे जिस भी जाति या धर्म का हो, वह यही कि जैसे दुश्मन की याद हमेशा बनी रहती है, वैसे ही भगवान की याद हमारे मन में सतत् कैसे बनी रहे! तुलसीदास जी ने तो कहा है–

कामिहि नारि पिआरि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

जिस मिशन के बारे में मैं बोल रहा हूँ, यह बहुत कठिन है, बात बस इतनी नहीं, बल्कि मनुष्य केवल इसी मिशन को पूरा करने के लिए मनुष्य बना है। तुम बच्चे बनाने के लिए मनुष्य नहीं बने हो। बच्चा तो कुत्ता भी पैदा करता है, भैंस भी पैदा करती है। दुनिया में जितने जीव हैं सब बच्चा पैदा करते हैं, तो तुमने बच्चा पैदा करके कौन-सा विशेष काम कर लिया?

मनुष्य का जो जन्म हुआ है, उसे ये जो दो पैर मिले हैं जिनसे वह सीधा खड़ा होता है, जो दिमाग मिला है जिससे अपने-पराये को देखता है, जिससे देश, काल और दिशा का ज्ञान प्राप्त करता है, ऐसी व्यापक प्रतिभा वाले मनुष्य का मिशन क्या हो सकता है? मनुष्य के पास कितनी सारी खूबियाँ हैं! किसी गाय को कितने ही साल कॉलेज में रख दो, पर वह कम्प्यूटर नहीं सीख सकेगी। किसी भी गधे को तुम विश्वविद्यालय में एम.ए. नहीं करा सकते हो, वह गधे का गधा ही रहने वाला है। मनुष्य जब पैदा हुआ तब इतना बेवकूफ था, इतना असमर्थ था, इतना कमजोर था कि दो साल तक उसकी माँ उसे गोद में ही खिलाती थी, उसका टट्टी-पेशाब

साफ करती थी। वह चल नहीं सकता था, दौड़ नहीं सकता था, उड़ नहीं सकता था। जबकि चिड़िया का बच्चा, जानवर का बच्चा पन्द्रह दिन में अपने आपको संभाल लेता है। और यहाँ बरसों, बुढ़ापे तक संभाल नहीं सकता अपने को। पर इस आदमी के पास एक विशेष चीज है। भगवान है, इस बात का आदमी को पता चल चुका है। तुमने भगवान को देखा नहीं है, मगर तुम्हें पक्का पता चल चुका है कुछ है जरूर। कैसे पता चला? जब मकान देखते हो तो पता चल जाता है कि इसको जरूर किसी मिस्त्री ने बनाया होगा। मिस्त्री को देखने की जरूरत नहीं है।

इसी तरह सृष्टि को देखकर स्रष्टा का अनुमान होता है। सृष्टि में इतने बड़े सूर्य-चन्द्र, इतने सितारे, कितनी अद्भुत चीजें हैं। शरीर को देखो, मन को देखो, कितनी विचित्रता। यूरेनियम के एक छोटे पत्थर में इतनी ऊर्जा, कितनी विचित्रता! सब जगह उसने चीजें भर-भर कर रखी हैं। यह अपने-आप तो नहीं हो सकता। इस प्रकृति में जो चमत्कार आज हम देख रहे हैं, ये अपने आप आ सकते हैं क्या? क्या यह सृष्टि स्वयं बनी है? क्या तुम बिना माँ-बाप के, अपने आप जन्मे हो? सबकी माँ है, सबका बाप है, सबको पैदा करने वाला कोई-न-कोई है। तो फिर सृष्टि का स्रष्टा नहीं है, कैसे कह सकते हो? सब चीजों को पैदा करने वालों का तुमने नाम दे दिया, पर जब सृष्टि को पैदा करने वाले की बात होती है तब तुम बोलते हो 'मालूम नहीं!'

असली चीज जो हम बोलना चाहते हैं वह यह कि मनुष्य जीवन धारण करके जो कुछ भी हमने पाया या कमाया या जो कुछ भी आज हम हैं, क्या वही काफी है? क्या सचमुच इसी के लिए हमारा जन्म हुआ? नहीं। हमें जो कुछ मिला है, वह अपनी जगह पर ठीक है, पर हमारे जीवन का प्रमुख प्रयोजन है परमात्मा की उपस्थिति की अनुभूति। यहाँ उपस्थिति की बात कर रहा हूँ, प्राप्ति या दर्शन की नहीं। आखिर क्या देखोगे! अर्जुन को दिखाया तो डर के मारे बेहाल हो गया। तुम लोग तो भूत-प्रेत से डर जाते हो, भगवान के दर्शन से पता नहीं क्या होगा! यहाँ हम सबसे सरल चीज बता रहे हैं। जैसे हमें भय का अनुभव होता है, सरदर्द का अनुभव होता है, पीठदर्द का अनुभव होता है, पुत्र की मृत्यु के शोक का अनुभव होता है, शत्रु का अनुभव होता है, स्त्री का अनुभव होता है या लोभ का अनुभव होता है, करीब-करीब उसी तरह से भगवान का अनुभव हो—मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा मिशन यही है।

रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में वर्णन आता है कि जब युद्ध समाप्त हो गया और रामचन्द्रजी का राज्याभिषेक हो गया, तब एक दिन उन्होंने सारे पुरवासियों को बुलाकर उपदेश दिया। उन्होंने जो कुछ कहा वही मैं आप लोगों को अभी बोल रहा हूँ कि इस दुर्लभ मनुष्य जीवन का उपयोग केवल ईश्वर की प्रतीति में करो। भगवान हमको न मिलें ठीक है, भगवान हमको दिखाई भी न दें ठीक है, परन्तु यदि भगवान के लिए हममें बेकली बनी रहे, बेचैनी बनी रहे, तो वही पर्याप्त है।

—16 जुलाई 2000, रिखियापीठ

गुरु पोज़िशनिंग सिस्टम

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

स्वामीजी, आपने एक सत्संग में कहा था कि योग में गुरु की आवश्यकता नहीं है, लेकिन अध्यात्म में गुरु की आवश्यकता होती है। इस बात को थोड़ी और गहराई से समझाइये।

देखिए, योग को हमलोग एक शब्द में लेते हैं, लेकिन वास्तव में योग दो भागों में बँटा हुआ है, एक है बहिरंग और दूसरा है अंतरंग। बहिरंग योग एक विधि है, साधना है, अभ्यास है, और अंतरंग योग एक मानसिकता है, दृष्टिकोण है, गुणात्मक परिवर्तन है। बहिरंग योग के लिये गुरु की नहीं, शिक्षक की आवश्यकता होती है, और अंतरंग योग के लिये शिक्षक नहीं, गुरु आवश्यक होता है। यह बात स्पष्ट होनी चाहिये।

तुम्हारी शिक्षा व्यवस्था में भी प्राइमरी स्कूल के टीचर अलग होते हैं और विश्वविद्यालय के प्रोफेसर अलग होते हैं। जो प्राइमरी स्कूल का टीचर है वह विश्वविद्यालय में प्रोफेसर का काम नहीं कर सकता, लेकिन जो प्रोफेसर है जरूरत पड़ने पर वह प्राइमरी स्कूल में टीचर भी बन सकता है। इसी तरह बहिरंग योग के लिये टीचर पर्याप्त है, प्रोफेसर की आवश्यकता नहीं। अंतरंग योग में प्रोफेसर जरूरी है, जो कहलाता है गुरु। अंतरंग योग को सिद्ध करने के लिये गुरु की नितांत आवश्यकता होती है।

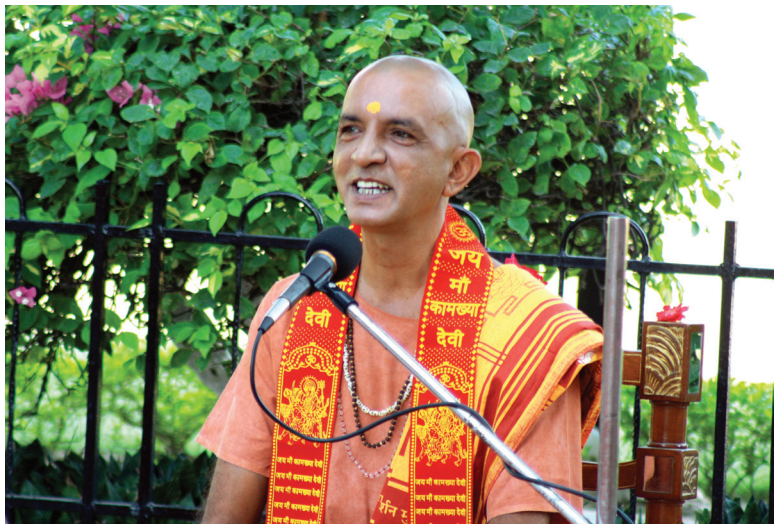

तुम आसन करो, प्राणायाम करो, हठयोग करो, राजयोग करो, कुण्डलिनी योग करो, क्रियायोग करो, जब तक तुम उसे अपने भौतिक जीवन से जोड़ते हो, वह कभी व्यायाम के रूप में होगा, कभी योग के रूप में होगा, कभी किसी अन्य रूप में होगा। लेकिन जब तुम आध्यात्मिक चेतना को धारण करना चाहते हो, जीवन में आध्यात्मिक जागृति चाहते हो, तब उसके लिये तुम्हें अपने भीतर विचार-परिवर्तन, स्वभाव-परिवर्तन और मानसिक-परिवर्तन लाना होगा, जीवन पद्धति को परिवर्तित करना होगा। यह सब गुरु ही आकर बतलाते हैं।

कुछ लोग पूछते हैं कि अंतरंग योग में भी गुरु की आवश्यकता क्यों? हमारे गुरु, स्वामी सत्यानन्द जी बतलाया करते थे कि जब हम अन्तर्यात्रा पर निकलते हैं तो हमें उस यात्रा के बारे में कुछ मालूम नहीं रहता। दिशा अज्ञात रहती है और आध्यात्मिक जागृति को प्राप्त करने के क्रम में हमारे सामने किस प्रकार के संस्कार, किस प्रकार के कर्म, किस प्रकार के अवरोध उपस्थित होंगे, वह हम नहीं जानते। उसके लिये एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है जो बतला सके कि तुम सही रास्ते पर हो या गलत रास्ते पर। अज्ञात मार्ग पर जाने के लिये एक जानकार व्यक्ति की आवश्यकता होती है।

एक उदाहरण देता हूँ। मान लो कि तुम गाड़ी में किसी जगह की यात्रा कर रहो। आजकल गाड़ी में एक चीज आती है जिसे कहते हैं जी.पी.एस., ग्लोबल पोज़िशनिंग सिस्टम। अब रास्ता तो तुम्हें मालूम नहीं, लेकिन जब जी.पी.एस. ऑन करते हो तो उसके माध्यम से मालूम पड़ता है कि आगे दो सौ मीटर जाकर दाहिने मुड़ो। तुम दाहिने मुड़ते हो, फिर जी.पी.एस. कहता है कि पाँच सौ मीटर के बाद बायें मुड़ो और तुम बायें मुड़ते हो। जी.पी.एस. में लड़की की आवाज बोल रही है, उसे हमने देखा भी नहीं, उससे हमारा कोई सम्बन्ध भी नहीं, लेकिन उसकी बात को तो मान रहे हैं न। क्यों मान रहे हैं उसकी बात? क्योंकि हम जिस दिशा में यात्रा कर रहे हैं वह हमें अज्ञात है, हमें रास्ता मालूम नहीं है। जब रास्ता मालूम नहीं तो हम किसी की आवाज को सुनकर उसके कहे मुताबिक ही चल सकते हैं।

गुरु भी तुम्हारे जी.पी.एस. की तरह है। मजेदार बात यह कि जी.पी.एस. आज का आविष्कार है, लेकिन हमलोगों के यहाँ जी.पी.एस. बहुत पुराना आविष्कार है, जिसे हमलोग गुरु पोज़िशनिंग सिस्टम कहते हैं। वह सिस्टम हमलोगों के यहाँ हजारों साल से चल रहा है। अध्यात्म की यात्रा में इस जी.पी.एस. की आवश्यकता निश्चित रूप से होती है और विधि-अभ्यास के दायरे में, जहाँ पर तुम यात्रा नहीं कर रहे हो, अपने घर में ही स्थाई हो, वहाँ पर जी.पी.एस. की नहीं, शिक्षक की आवश्यकता होती है।

–17 मई 2015, गंगा दर्शन

समर्पण का मर्म

संन्यासी दैवतच्च

लोग कहे कर गुरु को समर्पण, तो लग जाए भव-सागर पार
मीत मेरे तनिक यह तो बता दे, क्या है इस समर्पण का सार?

मुझे लागे कि समर्पण, नहीं कोई नर कर सके
समर्पण तो गुरु मिलन है, दान यह गुरु ही दे सके

समर्पण भाव उडुगन सदृश, अति दूरस्थ मेरी पहुँच से
कैसे पार्थिव मैं पान करूँ, सुधा का अमृत-कलश से

हे गुरु! तुम पुण्य पुंज, और मैं तमस् का मूर्त रूप
न कुछ भी अस्तित्व में मेरे, जो है समर्पण योग्य तुझे

खोज-खोज कर थक हारा, तुझे देने कुछ सूझ न पाया
चाह थी 'शुभ्र' अर्पित करने की, अंतस् टटोला, हाथ कुछ न आया

लेकिन पुण्य को भी भला, क्या दे सकेगा कुछ भी पाप
क्या भला मैं दे सकूँ, हैं सर्वगुण-आधार आप

लोग कहे मेरे प्रभु! हम हैं तुम्हारे पुत्र
फिर हम क्यों इतने अशुचि, और तुम ही परम पवित्र

होता संकोच मन में मेरे, देखकर पवित्रता तेरी
कैसे आऊँ सम्मुख तेरे, है पूर्ण-घट मलिनता मेरी

हे परमशुचि पिता मेरे, हे गुरु सौन्दर्यमूर्ति
पर, तुझे छुप देखना चाहूँ, कहीं न पड़ जाए छाया भी मेरी

क्या करूँ समर्पित गुरुवर, क्या मुझसे कुछ ले सकोगे?
मैं हूँ तेरा मलिन पुत्र, क्या तम-मल भी ले सकोगे?

पर, क्यों पतित-तम-अस्तित्व मेरा, धृष्ट चाहता है गोद तेरी
देखकर गुरु विग्रह को, क्यों जाग जाता मोद मेरा

पलक नीचे कर उठा ले, एक बार भी तू यदि
पाकर तेरी स्वीकृति, तम ही समर्पित करूँ अभी

तम-घोर ही व्यक्तित्व मेरा, अर्पित करूँ तम-पुष्प सभी
चाहूँ करना संतोष भर, अर्पित, पिता को निज-भाव सभी

देकर जो कुछ भी पास मेरे, रीत हो जाना चाहता हूँ
युग से तृषित हूँ, पितु स्नेह का, जी-भर आलिंगन चाहता हूँ

जो भी प्रिय लगता मुझे, उसे समर्पित करना चाहूँ
मैं अल्पमति और तम-प्रेमी, समर्पण का अर्थ यही जानूँ

होते ही दृष्टिपात तेरे, ऐसा क्या चमत्कार होता
उस समय बस तुम ही रहते, क्षुद्र 'मैं' जाने कहाँ होता?

जब भी तेरी छवि लखूँ, बन जाता मैं भूप
तब लगता मैं 'परमधनी', और हूँ प्रकाश स्वरूप

सब कहते हैं जगत् में, तम शत्रु है ज्योति का
अब यह जाना गूढ़ सत्य, है प्रेम, ज्योति से तम का

ज्योंही तमस् अर्पित करे, ज्योति को निज रूप
तमस् ज्योति में विलीन हो, बन जाता ज्योति स्वरूप

गुरु-तेज की ओर, तमोमय, मैंने चलना आरम्भ किया है
'गुरु-मुखी' हो जाना ही, मर्म समर्पण का मान लिया है।

सत्यम् वाणी

किसी भूखे को भोजन देना, किसी लंगड़े के लिए तिपहिया साईकिल देना, इसको मदद नहीं कहते। कौन किसकी मदद करता है? मनुष्य को तो बस अपना कर्म सुधारना चाहिए। हम अपना कर्म पिछले जन्म में सुधार कर आए, इसलिए आज अच्छी तरह से जी रहे हैं। मनुष्य जो कुछ भी करता है, अपने लिए करता है, अपना कर्म सुधारने के लिए करता है। जब तुम दूसरे की निन्दा करते हो, गाली देते हो, झगड़ा करते हो, हत्या करते हो तब अपना कर्म बिगाड़ते हो। जब दूसरे को भोजन देते हो, तब अपना कर्म सुधारते हो। हर कर्म अपने ऊपर लौट कर आता है। इसलिए कर्म सुधारना हर एक मनुष्य के लिए जरूरी है।

परोपकार

आदमी अपने कर्म कैसे सुधारेगा? कर्म सुधारने के लिए सबसे सरल तरीका है अपने बारे में सोचने के साथ-साथ दूसरे के बारे में भी सोचना। उसको कहते हैं परहित-चिन्तन या परोपकार या परमार्थ। पर का मतलब दूसरा, पर उपकार माने दूसरे का उपकार। लेकिन हम लोग किसका उपकार करते हैं? अपनी स्त्री का उपकार करते हैं या अपने बेटा-बेटी का उपकार करते हैं। आज हमारा जीवन मियाँ-बीबी और बच्चों तक सीमित है, बस। दूसरों और दूसरों में भी जो व्यक्ति अभागे हैं, जिनका भाग्य उनका साथ नहीं दे रहा है, जिनको किसी तरह की तकलीफ है, उनके बारे में सोचना चाहिए।

जो व्यक्ति दूसरे के बारे में अपनी तरह सोचता है, उसको ज्ञानी या वेदान्ती कहते हैं और उस भाव को कहते हैं, आत्मभाव। मेरे शरीर में दर्द होता है, तो मुझे महसूस होता है, पर तुम्हारे शरीर में दर्द होता है तो मुझे महसूस नहीं होता। तब फिर आत्मभाव कैसा? आत्मभाव होने पर दो आदमियों के बीच एक सम्बन्ध जुड़ता है। महाराष्ट्र में एक बहुत बड़े संत हुए, एकनाथ। एक बार वे गंगोत्री से जल लेकर भगवान शंकर को चढ़ाने के लिए रामेश्वरम् जा रहे थे। जब वे रामेश्वरम् मंदिर के परिसर में पहुँचे तो उन्होंने वहाँ एक प्यासे गधे को लेटे देखा, उसकी जीभ बाहर निकली हुई थी। उनके मन में आया कि क्या करूँ, यह जल इस गधे भगवान को चढाऊँ या पत्थर भगवान को चढाऊँ? उस जमाने में गंगोत्री से रामेश्वरम् तक पैदल जल लाना कितना मुश्किल था। आखिर में उन्होंने गधे भगवान को पानी पिला दिया और उनको भगवान के दर्शन हो गए! इसको कहते हैं आत्मभाव।

आत्मभाव का सिद्धान्त

आत्मभाव वेदान्त का आधार है। जब दो एक हो जाते हैं, उसको अद्वैत कहते हैं। इसी प्रकार आत्मभाव से दो एक हो जाते हैं। इसलिए न दान, न धर्म, न दया, कुछ नहीं, बस आत्मभाव होना चाहिए। भगवान से निरन्तर यही प्रार्थना करनी चाहिए कि भगवान मुझे दूसरों के दु:ख और सुख में भागीदार बनाओ। उससे क्या होगा? भगवान तुम्हारी प्रार्थना सुन लेंगे तो तुम्हें भागीदार बनायेंगे और तुम्हें दो-चार लाख रुपये दे देंगे कहीं से। तब जो प्रार्थना तुमने भगवान से की, उसे भूलना नहीं। तुमने कहा था भागीदार बनाओ, तो भगवान ने तुम्हें दो-चार लाख रुपये दे दिये। लेकिन तुमने तो अपने बेटे और बीबी को ही भागीदार बनाया, दूसरों को तो तुम भूल गए। तुम सिर्फ अपनी लड़की को अपनी लड़की क्यों मानते हो, मेरी लड़की भी तो है। उसको भी तो थोड़ा सोने का जेवर दे दो! हमारे सार्वजनिक जीवन में यही सबसे बड़ी कमी है। हम लोगों की साधना आधी-अधूरी है। मन्दिर में जाते हैं, अच्छा है, आरती करते हैं, बहुत अच्छा है, मगर वह पूरी साधना नहीं है। पूरी साधना तब होती है, जब मनुष्य की जीव मात्र के प्रति संवेदना हो। तुम महापुरुषों का जीवन देखो, सबकी यही कहानी रही है।

एक सच्ची घटना बताते हैं अपने जीवन की। आज से करीब पचास साल पहले की बात है, हम गुरुजी के आश्रम में रहते थे। कुम्भ मेला हुआ हरिद्वार में। जब हरिद्वार में कुम्भ मेला होता है तो कई लोग ऋषिकेश और बद्रीनाथ भी चले जाते हैं। अनेक यात्री ऋषिकेश आए। एक दिन हम शाम को बाल्टी लेकर जंगल जा रहे थे तो कुछ दूर जाने पर देखा, सड़क के किनारे एक गठरी जैसे पड़ी हुई थी, उस पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। हमने कुछ ख्याल नहीं किया, आगे बढ़ गए। दूसरे दिन पता चला कि हमारे गुरुभाई, स्वामी चिदानन्द जी एक कोढ़ी को

बोरे में उठाकर लाए हैं। वह एक बहुत बूढ़ा आदमी, एकदम दुबला-पतला, कहीं उत्तरप्रदेश का था। उसको कुष्ठरोग हो गया था और वह मरने के लिए तीर्थ में आया, यह सोचकर कि मुक्ति होगी। लक्ष्मणझूला शेषधारा के ऊपर जो सड़क है, वह वहीं तक जा सका, उसके आगे नहीं बढ़ सका, कमजोर रहा होगा। वह सड़क के किनारे बोरा बिछाकर पड़ गया था। उसी को मैंने पिछली शाम देखा था, पर मेरी दृष्टि उतनी ही थी।

स्वामी चिदानन्द जी ने उसके लिए एक छोटी-सी झोपड़ी बनाई, उसका इलाज भी करना शुरू कर दिया। उसके शरीर में सब जगह फोड़े निकले हुए थे। कुष्ठ दो प्रकार का होता है, एक तो सब जगह सूख जाता है और दूसरा होता है गलित कुष्ठ, जिसमें सारे अंग गलने लगते हैं। उसे गलितकुष्ठ था। अब उसकी सेवा के लिए आश्रम में सबकी ड्यूटी लगी, मेरी भी ड्यूटी लग गई कि तुम्हारा काम है उसकी हजामत बनाओ। उसकी हर दूसरे-तीसरे दिन हजामत बनानी पड़ती थी। और वह ऐसा आदमी था कि सड़कछाप गाली ही बोलता था। एक दिन मैं हजामत कर रहा था, थोड़ा झटका लगा तो थोड़ा-सा ब्लेड लग गया और खून निकला। उसने मुझे बहुत गालियाँ दीं। मुझे भी गुस्सा आया, मैंने कहा, 'एक तो हम तुम्हें यहाँ लाए हैं, दूसरा तुम्हारी सेवा कर रहे हैं और तुम इतना भी अहसान नहीं मानते हो।' तो उसने कहा, 'कौन-सा अहसान किया तुमने? मैं तो यहाँ मरने के लिए आया था। तुम नहीं लाते तो अब तक मेरा मोक्ष हो गया होता। क्या अहसान कर रहे हो? दु:खी दुनिया में मुझे फिर से ढकेल रहे हो तुम। तुम सब नालायक हो, तुम खाली ज्ञान

की बात करते हो, तुम्हारे दिल में सच्चाई की जानकारी नहीं है। मैं चाहता हूँ कि मुझे उठाओ अभी और गंगाजी में डाल दो।' पर सेवा होती रही और दो महीने की नियमित सेवा से वह स्वस्थ होकर एक दिन अचानक कहीं गायब हो गया।

सेवा

स्वामी शिवानन्द जी हमसे कहते थे, जब बच्चा स्कूल में जाता है तो पहले प्राईमरी में जाता है, फिर मिडिल में जाता है, तब मैट्रिक में जाता है, उसके बाद कॉलेज में जाता है और अन्त में यूनिवर्सिटी में जाता है। उसे सीधे कॉलेज में भर्ती कर दोगे तो क्या होगा? उसकी समझ में कुछ नहीं आएगा, वह बैठा रहेगा बुद्धू की तरह। तो उपाय क्या है? पहले उसे प्राथमिक विद्यालय में भर्ती करो। अब जीवन की प्राथमिक कक्षा कौन-सी है? सेवा। सेवा जीवन की अक्षर-प्रबोधिनी है, जहाँ अक्षरों का ज्ञान होता है। सेवा करोगे तो जीवन की 'ए बी सी डी' सीखोगे। और सेवा किसकी होती है? अपने घरवालों की नहीं, बल्कि सेवा उसकी होती है जिससे तुम्हें किसी फल की आशा न हो। यह नहीं कहना कि पति या पत्नी या माता-पिता की सेवा। इनमें अपेक्षाएँ होती हैं। पत्नी की सेवा करते हो तो अपेक्षा होती है, पति की सेवा करते हो तो अपेक्षा होती है। नहीं होती है क्या? कुछ तो होती है। पूर्ण अपेक्षारहित तो हो नहीं सकते। जब तुम फल की आशा या इच्छा से रहित होकर जो कर्म करते हो, उसे कहते हैं सेवा। यही गीता का बीज मंत्र है–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

फल की इच्छा से रहित जो कर्म किया जाता है उसका नाम सेवा है। इसके लिए उन लोगों की सेवा करनी चाहिए, उन लोगों की मदद करनी चाहिए, जिनसे हम कुछ अपेक्षा नहीं रखते। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हम उनकी सेवा करते हैं और वे अनपेक्षित ढंग से हमें चोट भी पहुँचा देते हैं। ऐसे लोगों की भी सेवा करनी चाहिए। यह सेवा है, जीवन की 'ए बी सी डी' है।

प्रेम

इसके बाद आता है प्रेम। अपनी पत्नी, पुत्र या भाई-बहन को कौन प्रेम नहीं करता? कोई सिखाता है प्रेम करना? नहीं, स्वाभाविक है, स्वत: हो जाता है। लेकिन दूसरों से प्रेम करना सीखना पड़ता है। प्रेम उस व्यक्ति से किया जाता है जो अपना न हो। इसके लिए बाइबिल में बहुत सुन्दर बात कही है, अपने पड़ोसी से प्रेम करो। यह बहुत ही उत्तम वाक्य है। अब पड़ोसी किसको कहते हैं? बगल में रहने वाला पड़ोसी है, उसके आगे रहने वाला भी पड़ोसी है, फिर उसके आगे रहने वाला

भी पड़ोसी है। कभी-कभी तो लगता है कि यह पड़ोसी पूरा देवघर हो सकता है, पूरा हिन्दुस्तान हो सकता है, पूरा एशिया हो सकता है! हमारे यहाँ लिखा है—*उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।* जिनका दिल बड़ा रहता है, उनके लिए सारी दुनिया उनका पड़ोस है। *अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्*—जिनका दिल छोटा होता है, वही कहते हैं कि यह मेरा है, यह तेरा है। बड़े दिल वाले के लिए दुनिया उसका पड़ोस है।

अभी के लिए तो अमरवा, देवीचक, ताराबाद और लकड़ीगंज जैसे आस-पास के गाँव ही अपना पड़ोस हैं। अभी अपनी शक्ति वहीं तक है। अभी हम लोग उतना पढ़ नहीं पाए हैं। जिस दिन कॉलेज में चले जाएँगे, उस दिन बोलेंगे कि सारी दुनिया अपना पड़ोस है। अभी हिम्मत नहीं होती बोलने की। तो यह दूसरी कक्षा है प्रेम की।

दान

तीसरी कक्षा है दान। उपनिषदों में एक बहुत सुन्दर कहानी है। कुछ व्यक्ति बैठे थे, आसमान में बादल जा रहे थे, वहाँ से आवाज आई, 'द! द! द!' तो उन लोगों ने सोचा, 'क्या आवाज आई है?' उनमें से एक राक्षस था, उसने कहा कि यह बादल कहता है, 'दयध्वम्'। दूसरा एक अमीर आदमी बैठा था, करोड़पति, वह बोला, 'दमध्वम्'। तीसरा आप जैसा कोई भला आदमी बैठा होगा, वह बोला, 'ददध्वम्'। तीनों ने 'द' के तीन मतलब लगाए। राक्षस आदमी ने कहा 'दयध्वम्', अमीर आदमी ने कहा 'दमध्वम्' और मनुष्य ने कहा 'ददध्वम्'। दयध्वम् माने दया करनी चाहिए, दमध्वम् माने अपने को नियंत्रित करना चाहिए और ददध्वम् माने देना चाहिए। अर्थात् राक्षस लोगों को दया करनी चाहिए, भोग भोगने वालों को अपने को नियंत्रित करना चाहिए, संयम से रहना चाहिए और अगर तुम मनुष्य हो तो तुम्हारा मुख्य धर्म होता है, दान। तुम जैसे लोगों से कहा दद्ध्वम्, याने 'दो'। यह तीसरा पाठ है। देने से जेब भी हल्की हो जाती है, इससे आयकर वालों का डर भी नहीं रहता। अगर आएँगे भी तो कुछ मिलने वाला है नहीं!

आध्यात्मिक जीवन के सोपान

सेवा, प्रेम और दान–ये तीन प्राथमिक कक्षाएँ हैं। अब इन तीनों को किए बिना ही अगर बैठ गए ध्यान के लिए या नाक पकड़कर प्राणायाम करने के लिए या कुण्डलिनी को जगाने के लिए या भगवान को पकड़ने के लिए तो उससे कुछ नहीं होगा। बिना प्राथमिक कक्षा में गए अगर कॉलेज में बैठोगे तो कुछ समझ में नहीं आएगा। सबका वही हाल है। सेवा, प्रेम और दान, यह जीवन की बुनियाद है। फिर इस जीवन रूपी मकान का ढाँचा बनता है आत्मशुद्धि, ध्यान और आत्म-साक्षात्कार से। आप मकान की छत, दीवार, फर्श और खम्भे देखते हैं, मगर इनके नीचे बुनियाद कैसी है? अगर बुनियाद नहीं होगी तो मकान उठेगा क्या? जीवन की बुनियाद होती है सेवा। सेवा तो सबकी की जाती है, माता-पिता की सेवा करो, पति की सेवा करो, भाई-बहन की सेवा करो, आखिर वे भी तो जीवन के अंग हैं, मगर उस सेवा को आप इति और अथ मत मानो।

हर आदमी को अपना कर्म सुधारना चाहिए। हम तो हमेशा कहते हैं, हमने कुछ अच्छे कर्म किए होंगे, तब भगवान ने हमें अच्छा गुरु, अच्छा शरीर और अच्छी बुद्धि दी। अब तो जीवन कट चुका है, संध्या हो गई है, रात आने वाली है। इसलिए हम देवघर में आए हैं, यहीं से जाएँगे सीधे। जब हम 'हे भगवान' पुकारते हैं, तब वे कहते हैं, 'सुनो सत्यानन्द, सब सीटें भर गई हैं, आरक्षण नहीं मिल रहा है। हाँ, तुम्हारा नाम हमने नोट कर लिया है।' भगवान कहते हैं कि अभी सीट नहीं है। ठीक है, वेटिंग लिस्ट में रखा है अपने को। और मजे की बात यह है कि मुझे वापसी का टिकट भी चाहिए। हमने कहा, 'हमें वापस आना है, हमें वापसी का टिकट भी चाहिए।' उन्होंने कहा, 'अभी नहीं, थोड़ा रुक जाओ।' ठीक है, रुकेंगे!

क्या हम लोगों को भी जाना चाहिये?

जाना कोई नहीं चाहता, मुझे मालूम है। पाण्डव जब वनवास में थे तो एक बार युधिष्ठिर ने पानी के लिये भाइयों को तालाब पर भेजा। सब-के-सब वहाँ का पानी पीते ही बेहोश हो गये। वहाँ एक यक्ष था जो कहता था कि मेरे प्रश्नों का उत्तर दो तो पानी लो। युधिष्ठिर ने पूछा, क्या प्रश्न है? पहला प्रश्न–*किमाश्चर्यम्,* संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है?

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

युधिष्ठिर ने कहा कि संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि संसार में रोज सबेरे और शाम लोग यमराज जी के घर जा रहे हैं। बाकी जो बचे हुए हैं, वे यहीं टिके रह जाना चाहते हैं, इससे बढ़कर और आश्चर्य क्या हो सकता है?

अगर आप लोग कहते हैं कि जाना चाहते हैं तो आप लोगों ने टिकट के लिये आवेदन कहाँ किया है? भगवान से कहते हैं कि अभी गाड़ी न आए तो अच्छा है। जिस दिन मनुष्य को वहाँ जाने की इच्छा हो, तैयारी हो, उस दिन से उसका मन संसार में कहीं रहेगा ही नहीं। उसका मन चौबीसों घण्टे भगवान में लगा रहेगा, क्योंकि यदि आदमी को आगे की मुसाफिरी करनी है तो उसे सफर का सामान अपने साथ रखना पड़ता है। वहाँ के सफर का सामान सिवाय भगवद् भजन और निष्काम जीवन के और कुछ है ही नहीं। जीयो

दूसरों के लिये, मरो दूसरों के लिये, खाओ दूसरों के लिये, कमाओ दूसरों के लिये, केवल दूसरों के लिये। जो आदमी दूसरे के लिये जीता है, वह फिर अपनी चिन्ता नहीं करता, असली बात इतनी है।

मुझसे एक महात्मा ने एक बार कहा, 'देखो, लक्ष्मी उन लोगों के पास रहती है जो उसका दुरुपयोग नहीं करते, जो उसका उपयोग अपने लिये नहीं, दूसरों के लिए करते हैं।' मैंने कहा, बहुत अच्छा विचार है। मैंने अपने मन में यही सोचा कि भगवान, एक रुपया दोगे तो 99.99 पैसा दूसरों का होगा, एक पैसा अपनी लंगोटी के लिये रख लेंगे। एक पैसा नहीं बल्कि 0.01 पैसा अपने लिये रख लेंगे। मैंने मजाक में सोचा और ऐसा ही हो गया। दूसरी बात उन महात्मा ने मुझसे यह कही कि लक्ष्मी जब चली जाए तो रोना नहीं। सोचना, छुट्टी मिल गई। मैंने सोचा, 'हाँ! यह भी बहुत अच्छा है।' मगर है बहुत मुश्किल। जब पैसा आता है तो बड़ी खुशी होती है। लोग उस दिन होटल-बोतल-टोटल में जाते हैं और जब पैसा जाता है तो चेहरा एकदम छोटा हो जाता है, रक्तचाप बढ़ जाता है, दिल की धड़कन बढ़ जाती है, कइयों का तो पेट खराब हो जाता है। वे महात्मा बोले कि नहीं, ऐसा नहीं होना चाहिए। लक्ष्मी तो पानी की तरह है। जैसे तरंग उठती है, भागती है, वैसे ही लक्ष्मी का स्वरूप है।

सत्कर्म की परिभाषा

शिवजी को पाँच किलो दूध चढ़ाना भी सत्कर्म ही है, मगर वह काफी नहीं है। दूसरों के लिये जब अच्छा काम करते हो तो उसे सत्कर्म कहते हैं और सत्कर्म ही

धर्म की परिभाषा है। बहुत-से लोग रोज मन्दिर जाते हैं, तीर्थों में जाते हैं, कहते हैं कि वे बड़े धार्मिक हैं, परन्तु यह धर्म की पूर्ण परिभाषा नहीं है। हालाँकि वह भी करना चाहिये, मगर केवल ईश्वर के पीछे भागना धर्म की पूर्ण परिभाषा नहीं है। मनुष्य के प्रति, हर प्राणी के प्रति कोई भी अच्छा काम करना धर्म की परिभाषा है। वह प्राणी जानवर, मनुष्य, अपराधी, दुराचारी, सदाचारी या संत-महात्मा, कोई भी हो सकता है। जिस कर्म को करने से दूसरे को मदद मिलती है, दूसरे व्यक्ति की भूख शांत होती है, दूसरे व्यक्ति का शरीर निरोग होता है, उसे सत्कर्म कहते हैं। ऐसा सब संत-महात्माओं, ऋषि-मुनियों ने कहा और किया है।

संसार में दु:ख तो सबको है। कोई मनुष्य ऐसा नहीं जो दु:खी न हो। लेकिन सुख भी संसार में सबके पास है। ऐसा कोई प्राणी नहीं जिसे सुख न मिला हो। सुख-दु:ख सबको दिन-रात की तरह मिलते हैं। किन्तु जो आदमी सत्कर्म करता है, वह दु:ख में दु:खी नहीं रहता, उसके लिये दु:ख का अर्थ बदल जाता है। हर एक आदमी को यही सोचना है कि भगवान! हमें सत्कर्म करने, दूसरों की मदद करने की सद्‌बुद्धि और सामर्थ्य दो।

रामचरितमानस–ग्रामीण साक्षरता की कुंजी

हम गाँव के लोगों के बीच साक्षर शब्द का उपयोग नहीं करते, यह हमारा मनोविज्ञान है। हम इनसे कहते हैं रामचरितमानस सीखो। अब अगर इन गाँव के लोगों को कहो कि पढ़ो, साक्षर बनो, तो कहते हैं कि पढ़कर क्या करेंगे, गोबर ही तो उठाना

है। पहले तो इन लोगों को समझाया-बुझाया, फिर सोचा कि छोड़ो, कौन माथा खपाये इन पर। अब रामचरितमानस दे देते हैं, बोलते हैं पढ़ो रोज, सुख-शान्ति मिलेगी। उनको यह तो पढ़ना पड़ेगा ही। और ये लोग वाकई रोज रामचरितमानस पढ़ते हैं। नवरात्रि के समय नवाह्नपरायण में बैठने की जगह नहीं रहती यहाँ, यही सब लोग आते हैं। हमने साक्षर शब्द की परिभाषा को बदल दिया है।

यहाँ गाँव की एक स्त्री थी, उसका हमने ऑपरेशन करवाया। एक दिन हमने उससे पूछा कि तुम पढ़ी-लिखी हो क्या तो उसने कहा, 'नहीं, हम तो गँवार हैं।' हमने पूछा, 'तुम पढ़ना-लिखना क्यों नहीं सीखती हो?' उसने कहा, 'क्या करें स्वामीजी, अभी तो घर-गृहस्थी देखनी पड़ती है।' हमने सोचा कि ठीक तो है, उसको बैंक में कोई एकाउंट तो खोलना नहीं है, न कोई बिल पास करना है। उसकी सीमित आवश्यकताएँ हैं। हम तब चुप रह गए। वह यहाँ बराबर आती थी। कुछ दिनों के बाद हम दूसरे लोगों को रामायण दे रहे थे तो उसने कहा, 'हमको भी दीजिए न?' हमने कहा, 'पढ़ोगी?' तो बोली, 'हाँ पढ़ेंगे।' सच में दुबारा जब आई तो रामायण पढ़ने लग गई थी!

यह मनोविज्ञान की बात है। अर्थात् पढ़ने का जो उद्देश्य आप उसे बता रहे हैं, वह उसकी खोपड़ी में घुसेगा नहीं। आखिर गोबर ही तो उठाना है उसको। लेकिन अगर इन गाँव की लड़कियों को, जो मजदूर वर्ग की हैं, जो अति साधारण वर्ग की हैं, पढ़ाई का उद्देश्य ठीक से समझाओगे, तो ये रामचरितमानस पढ़ लेंगी, हनुमान चालीसा पढ़ लेंगी। यदि आप यह उद्देश्य बोलेंगे– *विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रछन्नगुप्तं धनम्*, तो यह उनकी खोपड़ी में नहीं घुसने वाला। इस मनोविज्ञान को हमने पकड़ा है।

रामचरितमानस भारतीय जनमानस के लिए साक्षरता का सर्वोत्तम माध्यम है। मैं आप सबको संकेत दे रहा हूँ। मुझे तो उस स्त्री के माध्यम से अचानक अनुभूति हुई। यह भारतीय मनोविज्ञान है क्योंकि हिन्दुस्तान का आदमी कहता है, मैं पढ़ूँ क्यों? खासकर जो मजदूर या श्रमिक वर्ग के हैं, आखिर उनके आगे भविष्य क्या है, चुनौती क्या है? हमलोगों की जो वर्तमान सोच, माहौल और शासन व्यवस्था है, उसमें इन लोगों की सहभागिता क्या है? सवेरे उठते हैं, गोबर उठाते हैं, दिनभर बकरी चराते हैं और जहाँ-जहाँ लकड़ी मिलती है, उसको इकट्ठा करते हैं। हमारे अखाड़े के सामने अगर हम चार ईंट डाल दें, तो पाँच मिनट में गायब हो जाएँगी। साफ कर देते हैं ये लोग। हम यहाँ से पेड़ काटते हैं, छँटाई करते हैं, एक घण्टे के बाद आओ तो यहाँ कटी शाखाएँ नहीं पाओगे। हम तो कहते हैं उठाओ, हमें खुशी होती है। उनके जीवन का यही काम है। अब पढ़ाई का उनके जीवन में क्या स्थान है? साक्षरता और पढ़ाई कहाँ तक जीवन-संगत हैं, उनकी समझ में नहीं आता। इसीलिए तो बहुतों का स्कूल भी छूट जाता है।

इसलिए साक्षरता के लिए केवल रामचरितमानस लो। हर एक लड़के और लड़की को 'वर्णानाम् अर्थसंघानाम्' से अंत तक रामचरितमानस पढ़ना आना चाहिए। भारतीय साक्षरता यही है। जिस तरह से हमारा देश और हमारा शासन चल रहा है, उसे देखते हुए ही मैं यह बात कहता हूँ। मैंने तो सारे विश्व का भ्रमण किया है। अगले पचास-सौ साल तक तो मुझे ऐसी कोई झलक नहीं मिलती कि यहाँ के गाँव जापानी गाँव या स्विट्ज़रलैण्ड के गाँव या अँग्रेजी गाँव या फ्रेंच गाँव जैसे हो जायेंगे। नहीं, यह हो ही नहीं सकेगा क्योंकि यहाँ की जो मूल समस्याएँ हैं, वे केवल आज से सम्बन्धित हैं, कल से नहीं। मैं आप लोगों के आँकड़े नहीं मानता, मेरे अपने आँकड़े हैं। भारत की सत्तर प्रतिशत जनता के सामने 'आज' समस्या है, 'कल' नहीं, क्योंकि यह देश कृषिप्रधान देश है। कृषिप्रधान देश को तकनीकी के आधार पर आगे नहीं किया जा सकता। यहाँ की तकनीकी का आधार खेती और पशुपालन होना चाहिए, सुपर-सॉनिक विमान नहीं। किन्तु हम लोग इसके बारे में कुछ कर नहीं सकते, हम सामान्य जनता हैं।

गाँव के लोगों को पढ़ना तो चाहिए, मगर पढ़कर क्या करेंगे, बाबू बनना है क्या? गाँव की ये लड़कियाँ पढ़कर क्या करेंगी? उनके जीवन में इसका कहाँ उपयोग आएगा? रामचरितमानस पढ़ने में। सवेरे-शाम बैठ जाएगी, रामचरितमानस पढ़ेगी। एक घण्टा सुबह, एक घण्टा शाम को। मन पर असर होगा, राम का आदर्श आएगा, सीता का आदर्श आएगा, रावण के बारे में पता चलेगा और वह असर उसके बच्चों में जाएगा। बच्चों की अनुवांशिक संरचना सुधरेगी, उनके संस्कार सुधरेंगे। और जहाँ रामचरितमानस आएगा, वहाँ समृद्धि आएगी। सम्पत्ति की बात नहीं कहता हूँ, समृद्धि की बात करता हूँ। समृद्धि का मतलब होता है विवर्द्धन, बढ़ना। आज एक झोपड़ी बन गई, कल एक मकान और जोड़ दिया, परसों एक शौचालय जोड़ दिया। लोग कहेंगे, वह समृद्ध हो रहा है।

समृद्धि व्यक्ति को नियंत्रण में रखती है, उसे भटकने नहीं देती। लेकिन सम्पत्ति आदमी को भटका देती है, क्योंकि सम्पत्ति के साथ कुछ अवगुण आते हैं। जहाँ गुलाब जाएगा, वहाँ सुगंध जाएगी, जहाँ टट्टी जाएगी वहाँ दुर्गंध जाएगी और जहाँ सम्पत्ति जाएगी वहाँ दुर्गुण जाएँगे। जहाँ प्रभुता आएगी, वहाँ घमण्ड आएगा, जहाँ सम्पत्ति आएगी वहाँ व्यसन आएगा। मगर समृद्धि में न व्यसन होता है, और न ही घमण्ड।

समृद्धि मनुष्य को सदा नम्र रखती है। आज तुमने एक कमरा बना दिया, अगले साल एक बेडरूम जोड़ दो। इस साल तुमने फूस लगाया, अगले साल टिन लगा देना, इसके बाद एक टॉयलेट बना दो। इस साल फ्रेंच लैट्रिन बना रहे हो, अगले साल सुलभ बना देना, इसको समृद्धि कहते हैं। जो लोग रातों-रात अमीर बनना चाहते हैं, वे गलत रास्ते पर जा रहे हैं, क्योंकि सम्पत्ति आने पर दुर्गुण आएँगे,

व्यसन आएँगे, बुराइयाँ आएँगी, फिजूलखर्ची आएगी। मनुष्य के अन्दर जो उत्साह है, प्रेरणा है, योजनाओं को क्रियान्वित करने की शक्ति है, वह खत्म हो जाएगी। पैसे वाले आदमी के संघर्ष विपरीत मार्ग से चलते हैं।

जब तक हमारे लोग यह बात समझकर स्वीकार न कर लें कि हम पढ़ें क्यों, तब तक साक्षरता अभियान विफल रहेगा। हिन्दुस्तान में केवल एक प्रांत केरल को छोड़कर बाकी सब जगह प्रौढ़ शिक्षा और साक्षरता विफल रही है। उसका कारण क्या है? देखो, जो भी काम हम तुम्हें करने को कहते हैं, तुम्हारे मन में एक ही बात आती है, इससे क्या होगा? हम तुमसे कहते हैं, भागलपुर जाओ। तुम पूछते हो, क्यों? हर एक मनुष्य के मन में यही है। हमारे यहाँ गाँव से एक छोटी बच्ची, सुनीता आती है। उसे यहाँ की एक संन्यासी रोज 'ए बी सी डी' पढ़ाती है। वह कहती है, 'नहीं पढ़ूँगी।' जब पूछा कि क्यों नहीं पढ़ोगी तो बोली कि क्या करेंगे पढ़कर, मकसद क्या है? उसके सामने तो एक ही चित्र है, उसकी शादी होगी, ससुराल जाएगी, सवेरे उठकर उसे गोबर उठाना पड़ेगा, कंडा बनाना पड़ेगा, बर्तन मांजने पड़ेंगे, कपड़े धोने पड़ेंगे। यही एक चित्र तो उसके मन में है। उस चित्र का साक्षरता के साथ क्या सम्बन्ध है जी? और पढ़-लिखकर आदमी को कौन-सी तीसरी आँख मिल जाती है? शिक्षित मूर्ख भी तो बहुत हैं न दुनिया में।

मगर रामचरितमानस एक ऐसी चीज है जो हमारे समाज को अवश्य दी जानी चाहिए। उसमें साक्षरता भी है और सद्विचार भी। और सबसे बड़ी बात यह है कि रामचरितमानस घर में एक शकुन है, मंगल का एक प्रतीक है। जैसे जलता हुआ दिया घर में मंगल का प्रतीक है, वैसे ही रामचरितमानस घर में मंगल का प्रतीक है। जिस घर में सवेरे लड़का-लड़की, माँ-बाप बैठकर रामचरितमानस पढ़ें, उस घर से बुराइयाँ दूर होंगी, रामजी पर चर्चा होगी। राम तो मर्यादा पुरुषोत्तम थे। जब वाल्मीकि जी ने नारद से पूछा, 'भगवान! बताइये दुनिया में कौन-सा ऐसा व्यक्ति है जो गुणों में सर्वश्रेष्ठ हो, वार्ता में सर्वश्रेष्ठ हो, सौंदर्य में सर्वश्रेष्ठ हो, वचन पालन में सर्वश्रेष्ठ हो, आज्ञाकारिता में सर्वश्रेष्ठ हो, संकल्प शक्ति में सर्वश्रेष्ठ हो और विनम्रता में सबसे श्रेष्ठ हो', तब नारद जी ने कहा कि ऐसा तो एक ही व्यक्ति है, राम!

अब ऐसे व्यक्ति की कथा अगर हम घर में करें तो हम अपनी सुनीता

को बता सकते हैं कि देख बेटा, यह राम की कथा है। इसे तू पढ़ेगी तो तुझे बहुत अच्छा लगेगा। अच्छा न भी लगे तो भी जब गाएगी कम-से-कम थोड़ा झूमेगी, उतना थोड़ा-सा आनन्द तो आएगा। हमारे यहाँ जितने भी गोरी जात के लोग हैं, सब सुबह चार बजे रामचरितमानस पढ़ते हैं। सुबह चार बजे डमरू बजता है, फिर रामचरितमानस का पाठ शुरू होता है, ढोलक-मंजीरा लेकर गाते हैं चालीस मिनट तक। पहले पूरी चौपाई, दोहा पढ़ लेते हैं, फिर उसका अर्थ बताया जाता है। और जो संन्यासी उसका अर्थ बताता है, वह जर्मनी का है। वे इसे क्यों पढ़ते हैं? आखिर वह तो जर्मन है, फिर उसने हिन्दी क्यों सीखी? इसलिए सीखी कि वह रामचरितमानस पढ़ सके। भारत में साक्षरता का आधार यही है।

स्वामीजी, आपने गंगादर्शन को छोड़कर यहाँ राजधानी क्यों बनाई?

देखिये, यह बहुत लम्बी कहानी है। आश्रम चलाने का स्वप्न मेरे जीवन में कभी नहीं रहा। मेरा स्वभाव सदा एकान्तवासी रहा है। योग मेरा सम्प्रदाय नहीं है और मैंने योग का कोई व्यवस्थित अध्ययन भी नहीं किया है। मेरा अध्ययन, जैसा हमलोगों की परम्परा में होता है, वेदांत का अध्ययन है। मगर हमारे गुरुजी ने हमें आदेश दिया था कि तुम योग को प्रतिष्ठित करो, उसे ऊँचा पद दो। हमने करना चाहा, परन्तु हमसे हो नहीं सका। यह सन् 1956-60 की बात कह रहा हूँ।

फिर मैं सन् 1963 में त्र्यम्बकेश्वर गया और अपने इष्टदेव, भगवान शिव से एक प्रार्थना की, 'मुझे गुरु ऋण चुकाना है। आप मेरी बीस साल मदद कीजिये।' उस प्रार्थना के साथ उन्हें एक वचन भी दिया कि यदि काम हो जायेगा तो सब छोड़कर आ जायेंगे। सन् 1964 में काम चालू किया और सन् 1983 में छोड़ दिया। बीस साल काम किया। हमारा वायदा था कि उसके बाद हम सब छोड़कर आयेंगे, तो हमें छोड़ना पड़ा। भगवान के साथ हमारा एग्रीमेंट था। उसके हिसाब से हमें मुंगेर छोड़ना ही था और यह भी एग्रीमेंट है कि मुंगेर वापस नहीं जाना है। मुख्यत: तो यह बात है।

दूसरी चीज यह कि हम जीवन की संध्या में हैं। हर मनुष्य को जाना ही पड़ता है। कोई घर से, कोई अस्पताल से तो कोई दुर्घटना में जाता है। हमने सोचा, 'सबसे अच्छा है देवघर।' इसी को हमने अपनी अगली यात्रा का हवाई अड्डा मान लिया, यहीं से हमारा जहाज जायेगा और हमने आवेदन भी कर दिया है। मगर वहाँ से कहते हैं कि अभी सीट खाली नहीं है, इसलिये हम यहाँ आए हैं। हृदय में यही प्रार्थना है कि भगवान जिस दिन मेरा शरीर छूटे, उस दिन मेरे पास न तो कोई संस्था हो और न ही मेरी जेब में कोई पैसा हो, न तो मेरी कोई बीवी हो और न ही मेरा कोई बच्चा, न ही कोई मेरे आगे हो, न ही कोई मेरे पीछे, न डॉक्टर साहब मेरे सामने हो, न ट्यूब मेरी नाक में चढ़ी हो, न बेड-पैन मेरे बगल में रखा

हो, मैं नर्स का मुँह नहीं देखना चाहता। 'इतना तो करना स्वामी, जब प्राण तन से निकले, तेरा ही नाम लेते यह प्राण तन से निकले।' और यह देवघर में ही सम्भव है। मुंगेर में तो बगल में टाइपराईटर-कम्प्यूटर रखा हुआ है। वहाँ मरना ठीक नहीं है, साधु के लिये वह आदर्श मृत्यु नहीं है।

अस्पताल में मरना, बीवी-बच्चों के बीच मरना, चेला-चाँटी के बीच मरना, इधर आयकर की फाइल है, उधर कचहरी की फाइल है, यह सब नहीं चाहिये। अपने को उससे कोई मतलब नहीं। बस इतना है कि जब मैं मरूँ तब मुझे ख्याल आवे कि हे भगवान! मैंने तो उस आदमी से कहा था कि एक साईकिल दूँगा, नहीं दे सका। दूसरों के हित का चिन्तन करते हुए, दूसरों की भलाई का विचार करते हुए, निष्काम सेवा भाव के साथ प्राण निकले। मनुष्य की सेवा का विचार मन में आवे, किसी दीन-दु:खी का चित्र मन में आवे, किसी टी.बी. के मरीज का ध्यान मन में आवे, किसी गरीब विधवा का ख्याल मन में आवे, यह उत्तम मृत्यु है। इसीलिये हम देवघर आए हैं। यहाँ अच्छा लगता है। पानी भी अच्छा है, हवा भी अच्छी है, लोग भी अच्छे हैं। बस यही है कि आगे जाने के लिए सीट अभी नहीं मिल रही।

स्त्री जाति का उद्धार

स्त्री जाति को धर्म ने, समाज ने, यहाँ तक कि साधु-महात्माओं ने डर के मारे उपेक्षित किया है। लेकिन स्वामी सत्यानन्द किसी से डरता-वरता नहीं है। हम लड़कियों की फिक्र करते हैं, आपको बुरा लगे तो घर में बैठे रहना। मेरी माँ भी स्त्री थी, सब स्त्री से पैदा हुए हैं और जिस स्त्री से पैदा हुए हैं, उसी स्त्री के प्रति ऋण चुकाना चाहिये। हम औरतों को दहेज में अच्छी साड़ी, गहना, रुपया-पैसा सब देंगे। क्यों नहीं देंगे? आखिर कन्यादान हमारे वैदिक धर्म में सबसे बड़ा सामाजिक दायित्व है। अगर इस दायित्व से हम पीछे हटते हैं तो हम एक सामाजिक अराजकता के युग में प्रवेश करेंगे। कितना ही कष्ट क्यों न हो, हमें यह दायित्व पूरा करना चाहिये। हाँ, आगे चलकर हमारी लड़कियाँ यूरोप-अमेरिका की तरह सुशिक्षित और स्वावलम्बी हो जाएँ तब की बात छोड़ दीजिये। वह भी एक दिन होना चाहिये।

हम नहीं चाहते कि लड़की परावलम्बी रहे। वह अपने पैर पर खड़ी हो, पढ़े-लिखे, रसोई घर से बाहर निकले। सिर्फ रसोई-घर स्त्रियों की जगह नहीं है। उनका क्षेत्र सारा घर है, घरवाली तो वही होती है। वह समय आ सकता है, आना भी चाहिये कि जिस दिन हमारी लड़कियाँ लड़कों के साथ कंधे से कंधा मिलाएँ। मगर अभी ऐसा हाल नहीं है। आज समाज की साईकिल का एक पहिया पंचर है, अशक्त और असहाय है। एक पहिये पर कोई गाड़ी चलती है क्या?

मजे की बात यह कि जब वह तुम्हारे घर में आई, खाली हाथ नहीं आई, सूटकेस भरकर लाई। वह लक्ष्मी का रूप लेकर आई और तुमने उसे अपनी नौकरानी बना दिया। उसका बेटा थाली फेंक कर कहता है, साफ करो। वह कपड़े धोती है, बर्तन मांजती है, सब कुछ वही करती है। तुम क्यों नहीं करते हो? तुम्हारे घर में वह साईकिल-मोटर साईकिल लाई, सोना-चाँदी लाई और तुमने उसके साथ क्या व्यवहार किया है? कम-से-कम आत्मचिन्तन तो करो और पश्चात्ताप करो। हमारे समाज ने स्त्री जाति की जो उपेक्षा की है, उसके बारे में अब उसको आत्मचिन्तन करना होगा।

आज अमेरिका, इंग्लैंड, जर्मनी और फ्रांस जैसे देश जो इतने ऊँचे उठे हैं, इसलिये नहीं कि वहाँ के लोग विद्वान् हैं, बल्कि स्त्री जाति के कारण। गोरी जाति की जितनी लड़कियाँ हैं, उनकी शिक्षा जबरदस्त होती है। जिन देशों के पीछे तुम भाग रहे हो, नकल कर रहे हो, वे देश केवल स्त्रियों की वजह से ऊपर उठे हैं। वहाँ भी दो सौ साल पहले वही हाल था, जो तुम्हारे यहाँ है। दो सौ सालों में उन्होंने अपनी लड़कियों को घर से बाहर निकाला, उनको निकालना पड़ा। प्रथम और द्वितीय महायुद्ध में उनके लाखों-करोड़ों आदमी मरे। तब परिस्थितियों ने उनकी स्त्रियों को घर से बाहर निकलने के लिये मजबूर किया। तब जाकर आज वे इस स्थिति में हैं।

स्त्री जाति का उद्धार किये बिना किसी भी घर-परिवार या समाज का उद्धार नहीं हो सकता। हमलोगों का स्त्री जाति के प्रति जो विचार है कि स्त्री केवल भोग्या है, वह विचार गलत है। स्त्री केवल भोग्या नहीं, पूज्या है। भोग्या केवल उसका एक स्वरूप है और वह भी उसका एक मर्यादित स्वरूप है। स्त्री हमेशा पूज्या होती है, अब उसे प्रेम से पूजो, बहन के रूप में पूजो, शिष्या के रूप में पूजो, हमें उससे कोई मतलब नहीं। मगर स्त्रियों को जिस तरह से हमने रखा है, वह गलत है। समाज ने, धर्म ने, स्त्रियों के लिए एक मर्यादा निश्चित की है, हम उसे स्वीकार करते हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं हो जाता कि हम अपनी लड़कियों को अबला बनाकर घर में रखे रहें।

स्त्री के ऊपर इतने सारे प्रतिबन्ध और नियम वैदिक संस्कृति के नहीं, बल्कि बाहर से आइ संस्कृतियों के अवशेष हैं। वैदिक संस्कृति में तो गार्गी और मदालसा जैसी स्त्रियाँ राजा जनक की सभा में बैठकर शास्त्रार्थ करती थीं। यह बात आप लोगों को समझनी होगी। आज नहीं तो कल, स्त्री को योग्य बनाना होगा। बिना लायक बनाए अगर वह मार्केट में जायेगी तो क्या होगा? ठगी जायेगी। उनको योग्य बनाना पड़ेगा, जिसके लिये शिक्षा आवश्यक है।

इसलिये हम शिक्षा पर ज्यादा जोर देते हैं। हमारे यहाँ चाहे लड़का हो या लड़की, उन्हें पढ़ना चाहिये। वैसे हम आज की शिक्षा से भी संतुष्ट नहीं हैं। यह ख्याल में रखना कि हमारा हिन्दुस्तान आज एक साथ कई शताब्दियों में जी रहा है। यहाँ तुम्हें सोलहवीं शताब्दी का हिन्दुस्तान भी देखने को मिलेगा और इक्कीसवीं शताब्दी वाला भी। तब शिक्षा भी वैसी देनी चाहिये। भारत में सोलहवीं शताब्दी में रहने वाले को इक्कीसवीं शताब्दी की शिक्षा देना गलत है।

गाँव के बच्चों को स्कूलों में क्या पढ़ाते हैं? औरंगजेब की बेटी का नाम क्या था। अरे! हम क्या करेंगे औरंगजेब की लड़की का नाम जानकर? नहीं भी पढ़ाओगे तो चलेगा। हमें तो यह चाहिये कि अगर हम साबुन बनाना चाहें तो कैसे बनाएँ। अगर हम यहाँ मशरूम उगाना चाहें तो कैसे करें, कैसे उसकी मार्केटिंग करें? सब से पहली चीज है आर्थिक जीवन। घर में चार पैसा न हो तो आदमी कैसे जीवन बितायेगा? हमें गाँव में ऐसी शिक्षा देनी चाहिये जो गाँव के लोगों के लिये भौतिक दृष्टि से अर्थकरी हो। गाँव में धार्मिक शिक्षा देना जरूरी नहीं है, यहाँ की औरतें पूर्ण हैं इस मार्ग में। पण्डित पंचांग पढ़ेगा तो गलती कर सकता है, मगर ये लोग गलती नहीं करते हैं। मुहूर्त-नक्षत्र सब ठीक जानते हैं। ये गंवार और निरक्षर हो सकते हैं लेकिन इनके पर्व एकदम नक्षत्रों पर चलते हैं। इनका दिशाओं का, नक्षत्रों का ज्ञान बहुत अच्छा है। किन्तु व्यावहारिक जीवन में सबसे बड़ी चीज है, अर्थकरी विद्या, जो आज इन लोगों के लिये परम आवश्यक है। वह इनके पास नहीं है।

– 22 नवम्बर 1997, रिखियापीठ

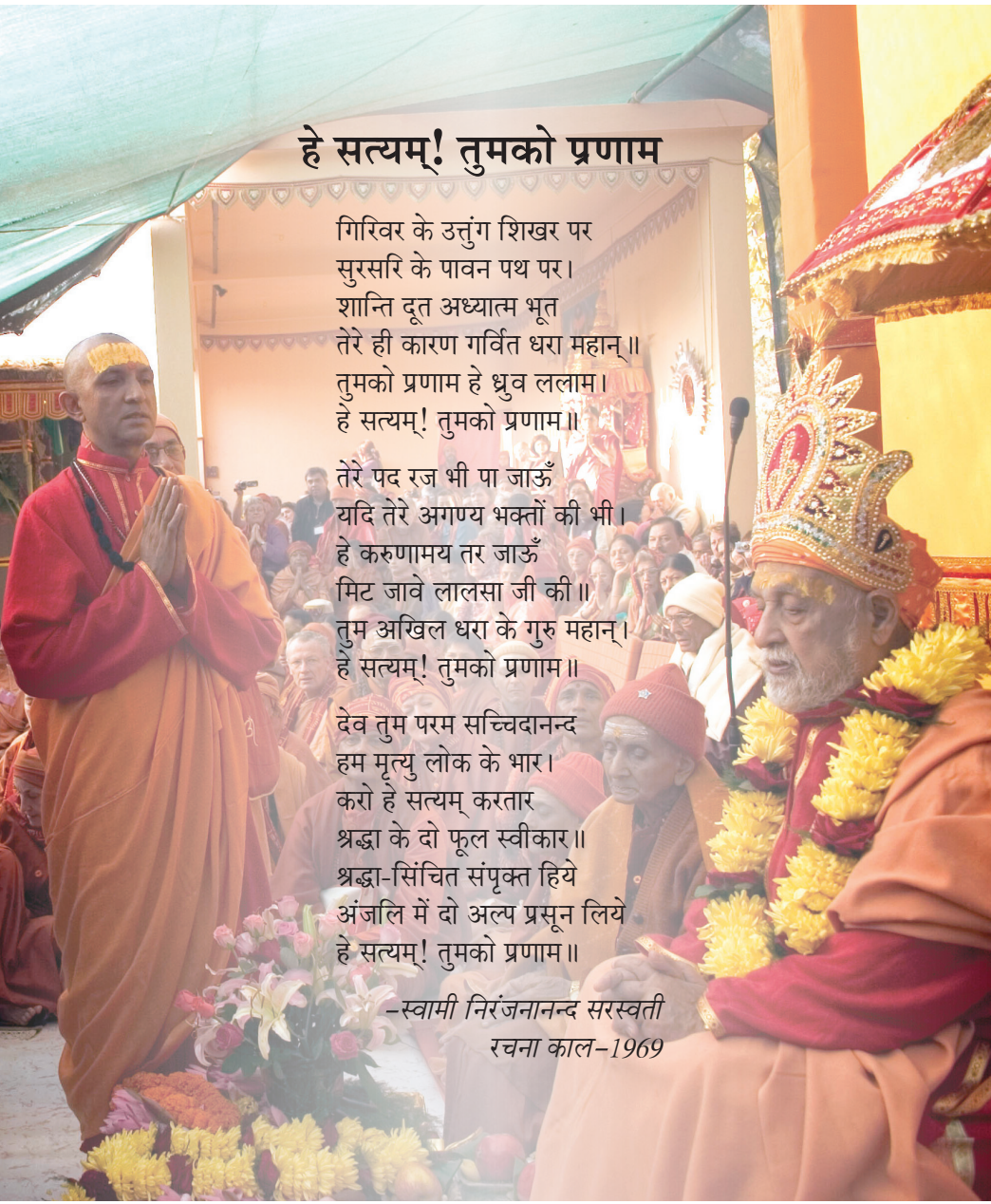

हे सत्यम्! तुमको प्रणाम

गिरिवर के उत्तुंग शिखर पर
सुरसरि के पावन पथ पर।
शान्ति दूत अध्यात्म भूत
तेरे ही कारण गर्वित धरा महान्॥
तुमको प्रणाम हे ध्रुव ललाम।
हे सत्यम्! तुमको प्रणाम॥

तेरे पद रज भी पा जाऊँ
यदि तेरे अगण्य भक्तों की भी।
हे करुणामय तर जाऊँ
मिट जावे लालसा जी की॥
तुम अखिल धरा के गुरु महान्।
हे सत्यम्! तुमको प्रणाम॥

देव तुम परम सच्चिदानन्द
हम मृत्यु लोक के भार।
करो हे सत्यम् करतार
श्रद्धा के दो फूल स्वीकार॥
श्रद्धा-सिंचित संपृक्त हिये
अंजलि में दो अल्प प्रसून लिये
हे सत्यम्! तुमको प्रणाम॥

–स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती
रचना काल–1969

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट

योग–अथ द्वितीयोऽध्यायः

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

पृष्ठ 31, ISBN: 978-93-84753-41-2

सन् 2013 में मुंगेर में आयोजित विश्व योग सम्मेलन में स्वामी निरंजनानन्द जी ने घोषित किया था, 'योग-प्रचार का प्रथम अध्याय पूरा हो गया है। अब योग का द्वितीय अध्याय प्रारम्भ होना है, जिसका लक्ष्य निष्ठा, गम्भीरता और प्रतिबद्धता के साथ योग का बेहतर प्रयोग होगा।' ये शब्द सार्थक सिद्ध हो रहे हैं। 21 जून का अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस के रूप में घोषित किया जाना यह संकेत देता है कि योग को दुनियाभर में मान्यता मिल गई है। स्वामीजी अब हमारे लिए ऐसा मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं जहाँ योग हमारी जीवनशैली बनकर समाज में सकारात्मकता और सृजनात्मकता की संस्कृति ला सके। इस यात्रा पर चलने के लिए स्वामीजी सभी को आमंत्रित करते हैं।

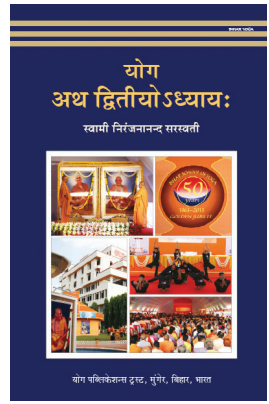

उपलब्ध

पुस्तकों की मूल्य सूची एवं क्रयादेश प्रपत्र प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें–
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, पी.ओ. गंगा दर्शन, फोर्ट, मुंगेर, बिहार 811201

दूरभाष : 91-6344-222430, 6344-228603 फैक्स : 91-6344-220169

जवाब के लिए अपना पता लिखा, डाकटिकट लगा लिफाफा भेजें, अन्यथा आपके आवेदन पर विचार नहीं किया जाएगा।

वेबसाइट

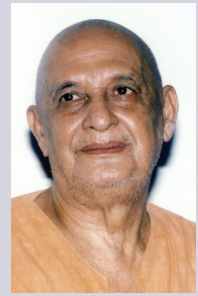

www.biharyoga.net
यह बिहार योग पद्धति की मुख्य वेबसाइट है जिसमें सत्यानन्द योग, बिहार योग विद्यालय, बिहार योग भारती तथा योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट सम्बन्धी जानकारियाँ उपलब्ध हैं।

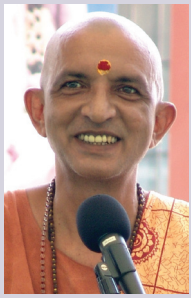

www.yogamag.net
योगा पत्रिका की वेबसाइट पर पिछले तीस वर्षों की प्रतियों का संग्रह है। इस निरंतर वर्धमान संग्रह में खोजने की सुविधा भी उपलब्ध है।

आवाहन वेबसाइट
www.biharyoga.net/sannyasa-peeth/avahan/ पर संन्यास पीठ की द्वैमासिक पत्रिका, *सत्य का आवाहन* उपलब्ध है, जिसमें श्री स्वामी शिवानन्द, श्री स्वामी सत्यानन्द एवं स्वामी निरंजनानन्द की शिक्षाओं तथा संन्यास पीठ की गतिविधियों की जानकारी है।

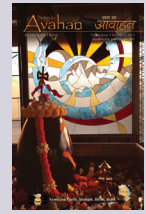

- Registered with the Department of Post, India
  Under No. HR/FBD/298/16-18
  Office of posting: BPC Faridabad
  Date of posting: 1st-7th of every month
- Registered with the Registrar of Newspapers, India
  Under No. BIHHIN/2002/6306

issn 0972-5725

bar code

योगपीठ के कार्यक्रम एवं प्रशिक्षण 2016

जुलाई 15-18	गुरु पूर्णिमा सत्संग कार्यक्रम (हिन्दी/अंग्रेजी)
जुलाई 19	गुरु पादुका पूजन
सितम्बर 24-30	हठ योग-षट्कर्मों का विशेष सत्र (हिन्दी/अंग्रेजी)
अक्टूबर 3-30	प्रगतिशील योगविद्या प्रशिक्षण (अँग्रेजी)
अक्टूबर 3- जनवरी 29	चातुर्मासिक योग अध्ययन सत्र (अंग्रेजी)
अक्टूबर 22-28	राज योग-आसन-प्राणायाम का विशेष सत्र (हिन्दी/अंग्रेजी)
नवम्बर 5-11	क्रिया योग-प्रारम्भिक (हिन्दी/अंग्रेजी)
नवम्बर 7- फरवरी 7 2017	यौगिक जीवनशैली का अनुभव (अंग्रेजी)
दिसम्बर 19-23	योग चक्र शृंखला (हिन्दी/अंग्रेजी)
दिसम्बर 25	स्वामी सत्यानन्द जन्मदिवस
प्रत्येक शनिवार	महामृत्युंजय हवन
प्रत्येक एकादशी	भगवद् गीता पाठ
प्रत्येक पूर्णिमा	सुन्दरकाण्ड पाठ
प्रत्येक 5 एवं 6 तारीख	श्री स्वामी सत्यानन्द जी की महासमाधि का स्मरणोत्सव
प्रत्येक 12 तारीख	अखण्ड रामचरितमानस पाठ

आश्रम में मोबाइल फोन लाना वर्जित है। अपना मोबाइल फोन कदापि अपने साथ न लाएँ।

उपर्युक्त सत्रों/ कार्यक्रमों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए सम्पर्क करें-

बिहार योग विद्यालय, गंगादर्शन, फोर्ट, मुंगेर, बिहार 811201

फोन : 06344-222430, 06344-228603 फैक्स : 06344-220169

वेबसाइट : www.biharyoga.net

✉ अन्य किसी जानकारी हेतु अपना पता लिखा और डाक टिकट लगा हुआ लिफाफा भेजें, जिसके बिना उत्तर नहीं दिया जायेगा।